

# श्रमण ŚRAMAᅇA

ISSN 0972-100

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIII

No. II

April-June-2012



*Jain Cosmic Man*

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

Established : 1937



# श्रमण

## ŚRAMAᅇA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXIII

No. II

April - June 2012

### *Joint Editors*

**Dr. Shriprakash Pandey**

(English Section)

**Dr. Ashok Kumar Singh**

(Hindi Section)



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

(Established: 1937)

(Recognized by Banaras Hindu University  
as an External Research Centre)

### **ADVISORY BOARD**

**Dr. Shugan C. Jain**  
Chairman, New Delhi

**Prof. Cromwell Crawford**  
Univ. of Hawaii

**Prof. Anne Vallely**  
Univ. of Ottawa, Canada

**Prof. Peter Flugel**  
SOAS, London

**Prof. Christopher Key Chapple**  
Univ. of Loyola, USA

**Prof. Ramjee Singh**  
Bheekhampur, Bhagalpur

**Prof. Sagarmal Jain**  
Prachya Vidyapeeth, Shajapur

**Prof. K.C. Sogani**  
Chittaranjan Marg, Jaipur

**Prof. D.N. Bhargava**  
Bani Park, Jaipur

**Prof. Prakash C. Jain**  
JNU, Delhi

### **EDITORIAL BOARD**

**Prof. M.N.P. Tiwari**  
B.H.U., Varanasi

**Prof. K. K. Jain**  
B.H.U., Varanasi

**Dr. A.P. Singh, Ballia**

**Prof. Gary L. Francione**  
New York, USA

**Prof. Viney Jain,**  
Gurgaon

**Prof. S. L. Jain, Varanasi**

ISSN: 0972-1002

### **SUBSCRIPTION**

#### ***Annual Membership***

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30

#### ***Life Membership***

For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

**Membership fee & articles** can be sent in favour of Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

#### ***PUBLISHED BY***

**Shri Indrabhooti Barar**, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005, Ph. 0542-2575890

#### **Email:**

pvpvaranasi@gmail.com

**NOTE:** The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

**Theme of the Cover :** *Jain Cosmic Man*

**Type Setting-** Mr. Suraj Kumar Mishra, P.V., Varanasi

**Printed by-** Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

## Contents

Our Contributors	iv
सम्पादकीय	v-vi
1. समवायांगसूत्र में पाठभेदों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ डॉ. अशोक कुमार सिंह	1-14
2. जैन अंग साहित्य में प्रतिबिम्बित संस्कार की वर्तमान में प्रासंगिकता डॉ. योगेन्द्र सिंह श्वेता सिंह	15-29
3. <i>Recollection (Smṛti) in Jaina Logic: An Instrument of Valid Cognition (Pramāṇa)</i> Dr. Rahul Kumar Singh	30-39
4. <i>Self Control : The Vital Aspect of Ascetic Life</i> Samani Rohit Prajna	40-57
स्थायी स्तम्भ	
पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार	58-60
जैन जगत्	61-62
पुस्तक समीक्षा	63

## ***Our Contributors***

***Dr. Ashok Kumar Singh***

Associate Professor, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi-  
221005

***Dr. Yogendra Singh*** (Associate Professor)

&

***Miss. Shweta Singh*** (Research Scholar)

Deptt. of History, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth,  
Varanasi

***Dr. Rahul Kumar Singh***

Research Associate, Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

***Samani Rohit Prajna***

Asst. Professor, Dept. of Jainology and Comparative Religion  
and Philosophy, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

## *From Chairman's desk*

The cover picture on this issue of *Śramaṇa* depicts "The Cosmic Man" (*Lokapuruṣa*) which is an important feature of Jain cosmology. *Loka* or cosmos as Jain cosmology is an eternal entity and is the home of all the six substance types namely; living beings, matter, space, time and principles of motion and rest. It is surrounded by an infinite void which is called *Aloka* where only space exists.

This Universe, according to Jainism, is broad at the top, narrow at the middle and once again becomes broad at the bottom. The Jain universe is divided into three basic realms, which together form the composite "Cosmic Man" or *Lokapuruṣa*. The legs of cosmic man represent a series of seven hells having living beings always in pain, the smallest part of the universe represented by the disk at the *Lokapuruṣa's* waist, called the middle world where mixture of pain and pleasure is experienced and all liberated souls attain their status from this part of the cosmos. When this occurs, the perfected soul floats to the top of the universe and eternally resides in the crescent-shaped realm above the heavens, shown at the forehead of the *Lokapuruṣa*. The upper world or the part above the middle world is divided into different abodes. It is the realm of the heavenly beings (demi-gods) i.e. non-liberated souls.

The word cosmic man is derived from the fact that the shape of *loka* is similar to the shape of a human being standing with his legs wide apart and hands on his waist.

The *āgamas* which describe the Jain cosmology and geography in a great detail are- *Sūryaprajñapti*, *Jambūdvīpaprajñapti*, *Trilokasāra*, *Trilokaprajñapti*, *Candraprajñapti*, *Trilokadīpikā*, *Tattvārthasūtra*, *Kṣetrasamāsa* and *Bṛhatsaṃgrahaṇī*.

***About this edition***

I am writing this note as our respected editor, Prof. Sudarshan Lal Jain, Director (Academics) of Parshwanth Vidyapeeth, had to leave the institute due to indifferent health in April 2012. We are thankful to him to bring a new academic culture to this journal and hope he will soon be available to maintain and upgrade the quality of this journal.

This journal also is late due to the ongoing ISSJS 2012 programs till July 12<sup>th</sup> where all our academic staff members were engaged in providing faculty support to more than 40 visiting scholars of Jainism from USA and other overseas universities. I extend my thanks to Profs. Ashok Kumar Singh and S. P. Pandey who agreed to be joint editors as well as Dr. Rahul Kumar Singh and Dr. Navin Kumar Srivastav; all of Parshwanath Vidyapeeth who made a sincere effort to put this issue together.

To enhance the contents of this journal, I request all our readers to share their experiences and offer suggestions for further improvement. I also invite our distinguished scholars all over the world to send their papers for consideration of the editorial board for publication in this journal. Similarly, I am requesting our distinguished professors and academicians to come forward and propose themselves to work as Review experts of the articles which are to be published in this journal.

Wishing you an academically rewarding experience of going through the journal.

***Shugan C. Jain***

## समवायांगसूत्र में पाठभेदों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

डा. अशोक कुमार सिंह

किसी भी परम्परा की मूल प्रवृत्तियाँ एवं उसके आप्त पुरुषों द्वारा अपने उपदेशों में अपनायी गयी भाषा की विशेषताओं का उसके साहित्य पर प्रभाव अपरिहार्य है। जैन परम्परा अर्थ को प्रधानता देती है। अतः साहित्य में एक ही प्रसंग में एक अर्थ के वाचक भिन्न शब्द के प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं। जैन परम्परा में तीर्थकरों ने अपने उपदेशों को सहज एवं व्यापक बनाने हेतु जनसामान्य की भाषा प्राकृत को माध्यम बनाया। जनसामान्य द्वारा अलग- अलग क्षेत्रों में अलग- अलग बोली का प्रयोग किया जाता है। इस कारण क्षेत्रीयता का भी प्रभाव भाषा पर है। प्राकृत विकल्प बहुला है। इसमें शब्दों और धातुओं के अनेक रूपों की उपस्थिति सामान्य है। उक्त सब कारणों का परिणाम यह है कि एक ही ग्रन्थ की अनेक पाण्डुलिपियों में पर्याप्त पाठभेद पाये जाते हैं। इन पाठभेदों को बढ़ाने में लेहिया (पाण्डुलिपिकार) की मानवीय भूलों का भी योगदान है। प्रस्तुत आलेख में समवायांग की विभिन्न पाण्डुलिपियों में पाये जाने वाले पाठभेदों की प्रमुख प्रवृत्तियों को उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है-

**सम्पादक**

जैन आगम अर्थ प्रधान है। आगम सामान्यरूप से तीर्थकर के उपदेश हैं। तीर्थकरों के उपदेशों को उनके प्रधान शिष्य गणधरों ने सूत्ररूप में निबद्ध किया है। आवश्यकनिर्युक्ति' में कहा भी गया है- अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं। जैन आगम परम्परा के अर्थ-प्रधान होने का स्वाभाविक परिणाम था शब्दों पर बल न देकर अर्थ पर बल देना। अभिप्राय व्यक्त करना मुख्य था शब्द चाहे जो प्रयोग किये जायें। इसके विपरीत यदि वेदों को देखा जाए तो वे शब्दप्रधान हैं। उनमें शब्द मुख्य हैं। शब्द क्या? विराम, मात्रा तक में भी परिवर्तन सम्भव नहीं है। इसी का परिणाम है कि जे. मैक्सम्यूलर<sup>2</sup> को ऋग्वेद की उनहत्तर (69) पाण्डुलिपियों में एक भी अल्पविराम और मात्रा का भी अन्तर दृष्टिगत नहीं हुआ। वहीं जब हम जैन परम्परा की पाण्डुलिपियों - हस्तप्रतों पर दृष्टिपात करते हैं तो उनमें पाठभेदों या पाठान्तरों की भरमार दिखाई पड़ती है। इन पाठभेदों की बहुलता देखकर यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि आगम ग्रन्थों की विषयवस्तु पर इन पाठभेदों का क्या प्रभाव पड़ता है? आगम जैसे पवित्र



2 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

ग्रन्थों में पाठभेद क्या उचित हैं? आखिर इन पाठभेदों के पीछे कारण क्या हैं? इन पाठ-भेदों की प्रवृत्ति क्या है? इस दृष्टि से सम्पादन के उच्च मानदण्डों को अपनाने वाले जैन मनीषियों द्वारा सम्पादित कृतियों का भी अवलोकन किया गया पर पाठ-भेदों के स्वरूप पर विचार किया गया हो ऐसी सामग्री दृष्टिगत नहीं हुई।

अतः मुनि पुण्यविजय द्वारा सम्पादित एवं महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण ठाणांग-समवाओ<sup>3</sup> में उपलब्ध पाठान्तरों के स्वरूप का इस लेख में विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

समवायांगसूत्र के सम्पादन में महावीर जैन विद्यालय संस्करण हेतु ताड़पत्रीय एवं कागज की कुल सात हस्तप्रतों का उपयोग किया गया है उनके संकेत इस प्रकार हैं-

### ताड़पत्रीय

1. खं- खंभात स्थित शान्तिनाथ जैनभण्डार की प्रति (प्रतिलिपिलेखन वर्ष 1292ई.),
2. जे1- जैसलमेर ज्ञानभण्डार (खरतरगच्छीय जिनभद्रसूरि संस्थापित) की प्रति (प्रतिलिपि लेखन वर्ष 1430 ई.),
3. जे2- जैसलमेर ज्ञानभण्डार की प्रति (प्रतिलिपिलेखन वर्ष अज्ञात),

### कागज

4. ला1- लालभाई दलपतभाई भा. सं. वि. मं. अहमदाबाद, क्र. 17044.
  5. ला 2- लालभाई दलपतभाई भा. सं. वि. मं. अहमदाबाद, क्र. 17045.
  6. हे1 -आचार्य हेमचन्द्र जैन ज्ञानमन्दिर, पाटन, पोथी सं. 213, प्रतिक्र. 9996.
  7. हे2 -आचार्य हेमचन्द्र जैन ज्ञानमन्दिर, पाटन, पोथी सं.7, प्रतिक्र.75,
- सामान्यरूप से समवायांग में पाठभेदों के कारण के रूप में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं-

1. जाव
2. समानार्थक शब्दों का प्रयोग
3. पण्णत्ते का अतिरिक्त प्रयोग
4. पादपूरक निपातों का प्रयोग
5. अर्द्धमागधी के स्थान पर महाराष्ट्री का प्रयोग
6. लेहिया द्वारा लिखते समय शब्दों का क्रम-परिवर्तन
7. हस्तप्रतिलिपिकार द्वारा वर्ण-क्रम-परिवर्तन

8. संख्यावाचक शब्दों के रूपों की बहुलता
9. संयुक्त व्यंजन के पूर्व दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व की वैकल्पिक प्रवृत्ति
10. संज्ञा (नाम)भेद
11. सन्धि के नियम-प्रयोग में शिथिलता
12. प्राकृत में समान-विभक्ति और वचन के रूपों की बहुलता
13. वर्णों की आकृतिगत समानता
14. लेहिया में विषय की अज्ञानता
15. पूर्ण और अपूर्ण नाम का प्रयोग
16. क्रिया-बहुवचन-एकवचन
17. क्रिया-वर्तमान- भविष्य
18. एक क्रिया के प्राकृत में कई आदेश
19. समानार्थक क्रियाओं का प्रयोग
20. धातुओं के रूपों की बहुलता
21. द्वित्व की प्रवृत्ति
22. शब्दों का सामासिक प्रयोग और विभक्ति के साथ प्रयोग
23. विभक्ति में अन्तर
24. समूहवाचकसंज्ञाओं का प्रयोग
25. अर्थ-परिवर्तन
26. वर्तनी दोष
27. विवरण का विस्तार

### 1. जाव

प्रायः विस्तार से बचने के लिए जो वर्णन उसी ग्रन्थ में या कभी-कभी अन्य ग्रन्थ में पहले आ चुका है उसकी पुनरावृत्ति से बचने के लिए आरम्भ और अन्त के शब्दों के मध्य जाव (यावत्) शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर मिलता है। कुछ हस्तप्रतों में जाव के पहले और बाद में अधिक और कम शब्दों का प्रयोग हुआ है तो कुछ में जाव का प्रयोग न कर पूरा वर्णन दे दिया गया है। यह स्थिति कई स्थलों पर पाठ-भेद पाये जाने का प्रमुख कारण बना है-

जाव अंतं करेस्सति -जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्सति।<sup>4</sup>

अजित संभव जाव पासो वद्धमाणो-

अजित संभव अभिणंदणं सुमई जाव पासो वद्धमाणो।<sup>5</sup>

उसभ अजित जाव वद्धमाणे -

उसभ-अजित-सम्भव-अभिणंदण-सुमइ- पउमप्पह-सुपास-चंदप्पह-सुविधि  
-सीअल-सिज्जंस-वासुपूज्य-विमल-अणंत-धम्म-संति-कुंथु-अर-मल्ली-  
मुणिसुव्वय-नमि-नेमी-पास-वद्धमाणा।<sup>6</sup>

अगार जाव पव्वतिते

अगारवासमज्जे वसित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए।<sup>7</sup>

अक्खरा जाव चरणकरणपरूवणया आघविज्जति।-

अक्खरा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासया कडा णिबद्धा  
णिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जति पण्णविज्जति परूविज्जति निर्दसिज्जति  
से एवं आया एवं णाया एवं विण्णाया एवं चरणकरणपरूवणया आघविज्जति।<sup>8</sup>

## 2. समानार्थक शब्दों का प्रयोग-

जैन परम्परा के अर्थ-प्रधान होने का परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग हस्तप्रतों में एक प्रसंग में समान अर्थ के वाचक विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाना पाठ-भेद का कारण बना है, जैसे -

-एगेपावे के स्थान पर एगे अपुण्णे (पाप अर्थ में)<sup>9</sup>

-चक्कवाल (वृत्ताकार) के स्थान पर आयाम(विस्तार अर्थ)<sup>10</sup>

-रोस (क्रोध) के स्थान पर दोस (विकार सामान्य अर्थ)<sup>11</sup>

-अनुभाग और अनुभाव (कषाय- क्रोध-मान आदि मानसिकविकारों की तीव्रता के वाचक) दोनों शब्दों का प्रयोग<sup>12</sup>

-ओमोदरी और ऊणोदरी (एक बाह्य तप जिसमें अल्प मात्रा में आहार ग्रहण किया जाता है) इन दोनों शब्दों का प्रयोग ओमोदरिया ऊणोदरिया<sup>13</sup>

-धुव के लिए नित्य (णिच्च) धुव राहू - णिच्च राहू<sup>14</sup>

-रात्रि के लिए रजनी राती- रयणी<sup>15</sup>

-अधःस्थित के लिए अवरिल्लाओ- हेट्टिल्ले, हिट्टिमिल्ले<sup>16</sup>

-मलिन- मइल<sup>17</sup>

## 3. पण्णत्ते का अतिरिक्त प्रयोग-

कुछ पाण्डुलिपियों में कई स्थलों पर विवरण के पश्चात् 'प्ररूपित किया गया है' इस अर्थ में 'पण्णत्ते' शब्द का प्रयोग किया गया है और कुछ में 'पण्णत्ते' शब्द का अभाव पाया जाना भी पाठ-भेद का कारण बना है, जैसे

उड्ढंउच्चत्तेणं पण्णत्ते<sup>18</sup> में पण्णत्ते का अभाव,

आयामविक्खम्भेणं पण्णत्ते<sup>19</sup>

अबाहाए मंदरे पव्वते पण्णत्ते<sup>20</sup>

अट्टारस पदसहस्साइं पदग्गेणं पण्णत्ते<sup>21</sup>,

पयसयसहस्साइं पयगोणं पण्णत्ते<sup>22</sup>

#### 4. पादपूरक निपातों का प्रयोग-

कुछ पाण्डुलिपियों में कई स्थलों पर 'णं' और 'तु' निपातों का प्रयोग और कुछ में उनका अभाव पाया जाना भी पाठ-भेद का कारण बना है, जैसे

इमीसे रयणप्पभाए- इमीसे णं रयणप्पभाए<sup>23</sup>

रसगारवे- रसगारवे णं<sup>24</sup>

तेसिं देवाणं- तेसिं देवाणं णं<sup>25</sup>

इमीसे- इमीसे णं<sup>26</sup>

महग्गहे-महग्गहे णं<sup>27</sup>

अट्ठादण्डे- अट्ठादण्डे उ<sup>28</sup>

वेयगसम्मत्तबंधोवयरस्स णं - वेयगसम्मत्तबंधोवयरस्स<sup>29</sup>

सव्वेसिं- स्व्वोसिं पि णं<sup>30</sup>

#### 5. अर्द्धमागधी के स्थान पर महाराष्ट्री का प्रयोग

कुछ पाण्डुलिपियों में कई स्थलों पर अकारान्त पुल्लिंग शब्दों का एकवचन में अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री में प्रयोग भी पाठ-भेद के कारण बनते हैं। श्वेताम्बर आगमों की भाषा अर्द्धमागधी है। अर्द्धमागधी में अकारान्त पुल्लिंग का एकवचन में रूप एकारान्त होता है जबकि महाराष्ट्री में वही रूप ओकारान्त होता है।<sup>31</sup>

उदाहरणार्थ- अर्द्धमागधी आयारे- महाराष्ट्री आयारो

इसी प्रकार सूयगडे- सूयगडो, सूतगडो<sup>32</sup>

#### 6. लेहिया ( हस्तलिपिकार ) द्वारा लिखते समय शब्दों का क्रम- परिवर्तन-

हस्तलिपिकार द्वारा पाण्डुलिपि की अनुकृति करते समय शब्दों के क्रम में परिवर्तन भी पाण्डुलिपियों में पाठभेद का कारण बनता है-

देवाणं अत्थेगतियाणं -अत्थेगतियाणं देवाणं<sup>33</sup>

देवाणं जहण्णेणं -जहण्णेणं देवाणं<sup>34</sup>

रुद्दे सुक्के- सुक्के रुद्दे<sup>35</sup>

कप्पे सभाए सुहम्माए- कप्पे सुहम्माए सभाए<sup>36</sup>

भट्टिट्तं सामित्तं-सामित्तंभट्टिट्तं<sup>37</sup>

कुमारमज्झावसित्ता-कुमारवासमज्झा<sup>38</sup>

विचित्तचित्तकूडा-चित्तविचित्तकूडा<sup>39</sup>

णं मंडले-मंडले णं<sup>40</sup>

वाराहे पुण आणंदे- वाराहे याणंदे पुण<sup>41</sup>

जाला तारा मेरा- तारा जाला मेरा<sup>42</sup>

6 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

7. लेहिया ( हस्तलिपिकार ) द्वारा लिखते समय वर्ण-क्रम-परिवर्तन-हस्तलिपिकार द्वारा पाण्डुलिपि की अनुकृति करते समय वर्णों के क्रम में परिवर्तन भी पाण्डुलिपियों में पाठभेद का कारण बनता है-

असिणाइ -अणिसाती, अणिस्साती<sup>43</sup>

सामे- मासे<sup>44</sup> चावोण्णतं- वाचोण्णतं<sup>45</sup>

लज्ज- जल्ल<sup>46</sup> नायगं- णायगं<sup>47</sup>

पसत्थारं- सपत्थारं<sup>48</sup> अणवत्तगं- अणत्तवग्गं<sup>49</sup>

विणीताए - विणीयातो, विणियातो<sup>50</sup>

8. प्राकृत भाषा में संख्यावाचक शब्दों के रूपों की बहुलता-प्राकृत भाषा में एक संख्या के कई-कई रूपों का होना भी पाठ- भेद का कारण बनता है-

एका-एक्का<sup>51</sup> बितियातो-बीयाओ<sup>52</sup>

बितिए- बीए<sup>53</sup>

चोद्दसमे- चउद्दसमे<sup>54</sup>

अट्ठादस- अट्ठारस<sup>55</sup>

एक्कतीसं- एक्कतीसं<sup>56</sup>

पणतीसं-पणुतीसं<sup>57</sup>

चोयालीसं-चोतालीसं- चोत्तालीसं-चउआलीसं<sup>58</sup>

सत्तचत्तालीसं- सत्तयालीसं<sup>59</sup>

चउप्पण्णं- चउवन्<sup>60</sup>

तेवट्ठीए- तेवट्ठी,तेवट्ठि<sup>61</sup>

चउसट्ठि<sup>62</sup>

सत्तसट्ठिं- सत्तट्ठिं<sup>63</sup>

एकूणसत्तरिं- एगूणसत्तरिं<sup>64</sup>

सत्तरीए-सत्तरीएहिं<sup>65</sup>

एकसत्तरीए- एकसत्तरी<sup>66</sup>

छावत्तरि- छावत्तरिमो<sup>67</sup>

अट्ठहत्तरे- अट्ठसत्तरे, अट्ठसत्तरि, अट्ठत्तरीए, अट्ठसत्तरीए<sup>68</sup>,

एकूणासीतिं, एगूणासिं, एगूणासीति, एगूणासीइ<sup>69</sup>,

असीतिं- असीति<sup>70</sup>

असीउत्तरं- आसीउत्तरं<sup>71</sup>

बासीए- बासीतीए, बासी, बासीइ<sup>72</sup>

तेयासीइमे- तेरासितीमे- तेरासीतिमं<sup>73</sup>

समवायांगसूत्र में पाठभेदों की प्रमुख प्रवृत्तियाँ : 7

9. संयुक्त व्यंजन के पूर्व दीर्घ के ह्रस्व की वैकल्पिक प्रवृत्ति-प्राकृत में 'ह्रस्वः संयोगे' सूत्र के अनुसार संयुक्त व्यंजन के पूर्व स्थित दीर्घ स्वर को विकल्प से ह्रस्व होता है। विकल्प से ह्रस्व होने के परिणाम स्वरूप दीर्घस्वर का भी प्रयोग होने के कारण प्रायः पाठान्तर प्राप्त होता है- मानुसोत्तर- मानुसुत्तर (ओ- उ)<sup>74</sup>

वितोसग्गे विओसग्गे- विउसग्गे, विउस्सग्गे (ओ- उ)<sup>75</sup>

ओसप्पिणीए- उस्सप्पिणीए (ओ- उ)<sup>76</sup>

वेंट विंट ए-इ<sup>77</sup>

आगमेस्साण- आगमिस्साण ए-इ<sup>78</sup>

10. सज्ञाभेद- विभिन्न पाण्डुलिपियों में नाम में भी भिन्नता पायी जाती है। इस कारण पाठभेद महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जैसे

सुभे (शुभ) य सुभघोसे(शुभघोष) - सुभे(शुभ) सुभघोसे (शुभघोष)<sup>79</sup>

वज्जज्झयं(वज्रध्वजम्)- वज्जरुयं(वज्ररुचं)<sup>80</sup>

भरहे( भरत)- भारहे ( भारते)<sup>81</sup>

समुद्ददत्तइसिवाले (समुद्रदत्त रिषिपाल)- समुद्ददत्त य सेवाल (समुद्रदत्त और शैवाल )<sup>82</sup>,

सोमचंद(सोमचंद्र)- सामचंद(श्यामचन्द्र)<sup>83</sup>

देवसेणं (देवसेन)- देवसम्मं(देवशर्म)<sup>84</sup>

11. सन्धि के वैकल्पिक होने के कारण पाठभेद-प्राकृत में दो पदों में सन्धि यां बहुल अधिकार या व्यवस्थित विभाषा से की जाती हैं। व्यवस्थित-विभाषा पद का अर्थ है- किसी प्रयोग में सूत्र का नित्य प्रवृत्त होना, किसी में न प्रवृत्त होना, किसी में विकल्प से प्रवृत्त होना- पदयोः सन्धिर्वा,<sup>85</sup>

संति एगतिया- संतेगतिया<sup>86</sup>

भरहे एरए- भरहेरवते<sup>87</sup>

हेमवय एरण्ण- हेमवतेरण्ण <sup>88</sup>

प्राकृत में विभाषा या बहुल अधिकार के नियमों के अनुसार कहीं-कहीं एक पद में भी विकल्प से सन्धि हो जाती है-<sup>89</sup>

बेइदिया- बेदिया<sup>90</sup> , बेइदिय- बेदिय<sup>91</sup>

तेइदिया- तेंदिया<sup>92</sup> ,

बितीए- बीए, बितियातो- बीयाओ<sup>93</sup>

तवइंसु- तविंसु,<sup>94</sup>

8 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

12. प्राकृत में समान विभक्ति और वचन के रूपों की बहुलता - प्राकृत में एक विभक्ति और वचन में कई-कई रूप होते हैं । पाण्डुलिपियों में अलग-अलग रूपों के लिखे होने के कारण भी पाठ-भेद मिलते हैं -

उदाहरण के लिए सत्तमीसु - सत्तमीए<sup>95</sup>

प्राकृत में विकल्प से अव्यय पदों तथा उल्खात आदि शब्दों के आदिम आकार को अकार होता है- वाव्ययोत्खातावदातः 8.1.67<sup>96</sup>। प्राकृत की इस विशेषता के कारण भी कुछ पाठ-भेद प्राप्त होते हैं, जैसे-

अदुवा (अथवा)- अदुव<sup>97</sup>

13. वर्णों की आकृतिगत समानता - कुछ वर्णों की आकृति में समानता होने से लिपिकार भ्रमवश सल्ले वर्ण के स्थान पर उससे मिलता-जुलता अन्य वर्ण लिख देता है जैसे ग-ठ,ग-व, स-त, भ-म आदि, जो पाठ-भेद का कारण बनता है, जैसे,

होक्खति- होक्कति<sup>98</sup>,

गणाइ- ठाणाइ<sup>99</sup> उग्घातिया- उवघातिया<sup>100</sup>, अणुग्घातिया- अणुवघातिया<sup>101</sup>,

कज्जसेणे- कक्कसेणे<sup>102</sup>, अट्ठत्तीसइभागं- अट्ठवीसइभागं<sup>103</sup>,

भणियव्वा- भतियव्वा<sup>104</sup>, तित्थप्पवत्तयाण- तित्थणिवत्तयाण<sup>105</sup>,

पभास- पभात<sup>106</sup>, अभियंदे(अभिचंदे)-अमियंदे<sup>107</sup>,

भेयाय-भेयाणं<sup>108</sup> केउभूयं- केउच्चयं<sup>109</sup>,

सुव्वय(सुव्रत)सुज्जय- सुव्वते,सुज्जते, सुज्जोय<sup>110</sup>,

भोए- लोए<sup>111</sup> पृ. 119.

14. अज्ञानतावश त्रुटिपूर्ण लेखन- किसी-किसी हस्तप्रत का लिपिकर्ता विषय से अज्ञात होने के कारण सामान्यबुद्धि से त्रुटिपूर्ण वर्ण या शब्द लिख देता है जिसके कारण भी पाठ-भेद हो जाता है-

विसुत(विश्रुतदेव)- विस्मृतं (खं),विस्तृतं, विसुतं<sup>112</sup>

अंतरे(अन्तराल)- अंतकरे<sup>113</sup>

अबाहाए (व्यवधानरहित)- अवहाते<sup>113</sup>,

पोरेक्कव्वं- पोक्खच्च<sup>114</sup>, खहयर- खहय<sup>115</sup>

मंदर(पर्वत)-मंदिर<sup>116</sup>, विमल-विम्लह<sup>117</sup>,

सिद्धावत्तं,सिद्धायुद्धं, सिद्धावद्धं, सिद्धावहं, सिद्धवद्धं<sup>118</sup>

आसोत्थे (अष्टवत्थ)-आसेट्ठे खं, आसेट्ठी हे1 ला 2, आसित्थे हे 2,

आसत्थ<sup>119</sup>

अंबगरुक्खे, अंबंरुक्खे- अवरुक्खे हे 1 ला 2, अवंगरुक्खे जे.1,<sup>120</sup>

पुढवी, पुहई- पहुओ,<sup>121</sup>

15. पूर्ण और अपूर्ण नाम का प्रयोग-जैसे विज्जाणुप्पवाय (विद्यानुप्रवादपूर्व) के स्थान पर अणुप्पवायपुव्व- अनुप्रवादपूर्व<sup>122</sup>, वीरियपुव्वस्स-वीरियपवाय पुव्वस्स यह भी पाठ-भेद का कारण है।

16. क्रिया-बहुवचन-एकवचन होति-होति,<sup>123</sup> आघविज्जति-आघविज्जति,<sup>124</sup>,

17. वर्तमान- भविष्य- भवति- भविस्सति,<sup>125</sup> - करेति- करिस्सति,<sup>126</sup> सिज्झति- सिज्झिस्सति,<sup>127</sup>,

18. एक क्रिया के प्राकृत में कई आदेश-कृ करना के प्राकृत में कुण और कुव्व आदेश होते हैं- कुणइ- कुव्वइ,<sup>128</sup>

19. समानार्थक क्रियाओं का प्रयोग- भवति- जायति,<sup>129</sup> (होने या उत्पन्न होने के अर्थ में)

20. क्रियाओं के रूप में बहुलता- करेस्सति- करिस्सति<sup>130</sup>

21. प्राकृत में द्वित्व की प्रवृत्ति के कारण पाठभेद-

प्राकृत में द्वित्व की प्रवृत्ति पायी जाती है। प्राकृत व्याकरणकारों ने प्राकृत में असंयुक्त व्यंजनों के द्वित्व होने के नियमों का निर्देश किया है-

(अ)समासदशा में आदेशभूत वर्णों का द्वित्व होता है,

(ब)तैल आदि शब्दों के अनादिभूत अन्त्यव्यंजन हों या अनन्त्यव्यंजन, उनको यथादर्शन अर्थात् प्रयोग के अनुसार द्वित्व हो जाता है।<sup>131</sup>

(स) तैल आदि शब्दों के अनादिभूत अन्त्यव्यंजन हों या अनन्त्यव्यंजन, उनको यथादर्शन अर्थात् प्रयोग के अनुसार द्वित्व होजाता है।<sup>132</sup>

एका-एक्का<sup>133</sup> एकूण-एक्कूण<sup>134</sup>

एक्कतीसं-एक्कतीसं<sup>135</sup> गद्दभे- गद्दब्भे<sup>136</sup>

चोयालीस- चोतालीस- चोत्तालीस<sup>137</sup>

तेकाल(तिकाल)-तेक्काल<sup>138</sup>

महालियाए-महल्लियाए<sup>139</sup>

सुक्कल- सुक्कल्ल<sup>140</sup>

22. शब्दों का सामासिक प्रयोग और विभक्ति के साथ प्रयोग- समवायांगसूत्र की कुछ प्रतियों में वे ही शब्द सामासिक शब्द के रूप में तो कुछ में विभक्ति के साथ प्रयुक्त होने से पाठान्तर मिलते हैं-

अट्टझाणे- अट्टे झाणे,

रुद्दझाणे -रुद्दे झाणे,



10 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

धम्मज्ञाणे - धम्मे ज्ञाणे,

सुक्कज्ञाणे- सुक्के ज्ञाणे<sup>141</sup>

हत्थनक्षत्ते- हत्थे नक्षत्ते<sup>142</sup>

जीवोपोग्गलात्थिकाए- जीवात्थिकाए पोग्गलात्थिकाए<sup>143</sup>

नो इत्थीकहा- णो इत्थीणं कहा<sup>144</sup>

### 23. विभक्ति में अन्तर-

संसत्ताणं सेज्जासणाण (षष्ठी)- संसत्ताणि सेज्जासणाणि (द्वितीया)<sup>145</sup>

अद्धमासेहिं (तृतीया)- अद्धमासाणं(षष्ठी)<sup>146</sup>

24. समूहवाचकसंज्ञाओं का प्रयोग- कभी-कभी किसी पाण्डुलिपि में मात्र व्यक्तिवाचक संज्ञा का प्रयोग किया गया है तो कुछ में व्यक्तिवाचक के साथ जातिवाचक संज्ञा का भी प्रयोग होने से पाठभेद दिखाई पड़ता है-

जम्बूददीवे (व्यक्तिवाचक) -जम्बूददीवे दीवे (जातिवाचक)<sup>147</sup>

भवसिद्धिया (व्यक्तिवाचक) - भवसिद्धिया जीवा (जातिवाचक)<sup>148</sup>

मोहणिज्जस्स- मोहणिज्जस्स कम्मस्स<sup>149</sup>

तणपरीसहे- तणफासु परीसहे<sup>150</sup>

25. अर्थ- परिवर्तन- पाण्डुलिपियों में लिपिकर्ता द्वारा असावधानीवश 'अ' जोड़ दिये जाने से अर्थपरिवर्तन जैसा महत्त्वपूर्ण पाठभेद दृष्टिगत होता है-

नियट्टिबायरे(निवृत्तिबादर)- अनियट्टिबायरे (अनिवृत्तिबादर)<sup>151</sup>

णाणपरिसहं- अण्णाणपरिसहं<sup>152</sup>

पच्चक्खाणकिरिया-अपच्चक्खाणकिरिया<sup>152</sup>

26. वर्तनी (spelling) में त्रुटि के कारण पाठ-भेद- कहीं-कहीं भूलवश मात्र ह्रस्व के बदले दीर्घ और दीर्घ के बदले ह्रस्व स्वरों के प्रयोग से भी पाठ-भेद दिखाई पड़ता है-

सिंधुओ- सिंधूओ<sup>153</sup>, पवाहे- पवहे<sup>154</sup>

रत्ता-रत्तवतीओ(रक्ता और रक्तवती नदियां)- रत्तरत्तवतीओ<sup>155</sup>

पडंति(पतंति)- पवडंति<sup>156</sup>

आहत्तिहिए(याथातथ्य)- आधत्तधिए खं, ला1, अहात्तधिए खं, अधत्तधिए जे., अधत्तधिए<sup>157</sup>

27. प्राकृत में इकारान्त उकारान्त में स्त्रीलिंग और पुलिंग में प्रथमा विभक्ति एकवचन में ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ हो जाता है- अक्लीबे सौ<sup>158</sup> इस कारण भी पाठ-भेद दिखाई पड़ता है।

जैसे समिति-समिती<sup>159</sup> किति- किती<sup>160</sup>

परन्तु इसनियम पालन के अभाव में किट्ठी के बदले किट्ठि(कृष्टि) भी दिखाई देता है।<sup>161</sup>

कभी-कभी धातुरूपों में भी ह्रस्व इ को दीर्घ ई दिखाई पड़ता है, जैसे-  
पकुव्वति(इ)- पकुव्वती(ई)<sup>162</sup> ,

मारेइ- मारेई, पहणइ- पहणई<sup>163</sup>

भासति-भासई<sup>164</sup> ,कुणइ- कुव्वई<sup>165</sup>

**28. भेद और उपभेद सहित वर्गीकरण-** किसी-किसी पाण्डुलिपि में किसी विषय का सामान्य वर्गीकरण उल्लिखित है तो किसी-किसी में सूक्ष्मवर्गीकरण जो प्रायः पाठभेद का कारण बना है। उदाहरणस्वरूप, ग्रैवेयक विमान के तीन वर्गीकरण हैं -शीर्ष, मध्यम और अधः। इन तीनों के भी उपभेद हैं- शीर्ष, मध्यम और अधः।

उवरिमगेवेज्जयाणं - उवरिमउवरिमगेवेज्जयाणं<sup>166</sup>

मज्झिमगेवेज्जयाणं - मज्झिममज्झिमगेवेज्जयाणं<sup>167</sup> -

मज्झिमगेवेज्जयाणं - मज्झिमहेट्ठिमगेवेज्जयाणं<sup>168</sup> -

हेट्ठिमगेवेज्जयाणं-हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्जयाणं<sup>169</sup> .

**27. विवरण का विस्तार -** किसी पाण्डुलिपि में विषय को स्पष्ट करने के लिए विशेषणात्मक शब्दों को जोड़ देने, किसी में सभी उपभेदों के अन्त में एकबार उस विषय का नाम देना तो किसी में हर उपभेद के साथ देने भी पाठ-भेद हो जाते हैं, जैसे,

मनुयाणं - सन्निमणुयाणं (संज्ञी विशेषण अतिरिक्त)<sup>170</sup>

असुरिन्द- असुरकुमारिन्द(कूमार विशेषण अतिरिक्त)<sup>171</sup>

भवसिद्धिया-भवसिद्धिया जीवा<sup>172</sup>

तणपरीसहे- तणफास परीसहे<sup>173</sup>

कम्माणं एकूणसत्तरि- कम्पगडीणं एकूणसत्तरि<sup>174</sup>

महापायाला- महापायालकलसा<sup>175</sup>

सुरगमण- सुरगतिगमण<sup>176</sup>

जीवपोग्गलात्थिकाए- जीवत्थिकाए जीवपोग्गलात्थिकाए<sup>177</sup>

कोहमाणानंताणुबंधी- कोहे अणंताणुबंधी माणे अणंताणुबंधी<sup>178</sup>

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि किसी ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों में उपलब्ध प्रत्येक पाठान्तर का सूक्ष्म विवेचन एक लेख में समाहित करना संभव नहीं है। इस लेख में पाठभेद के केवल मुख्य कारणों के विवेचन का प्रयास किया गया है। न के बदले ण, इ-ति, क के बदले ग जैसे सैकड़ों अन्तर, वर्तनी

12 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

की अशुद्धियों की भरमार तो समान्य हैं। यह निर्विवाद है कि जैन परम्परा में अर्थ की प्रधानता, भाषा पर क्षेत्रीयता का प्रभाव और लेहिया की अज्ञानता, कई वर्णों की लिपि में सादृश्य आदि इन पाठान्तरों के प्रमुख कारण रहे हैं।

### सन्दर्भ सूची

1. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।

सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं तित्थं पवत्तइ।। 92।।

-आवश्यकनिर्युक्ति, आचार्य भद्रबाहु, निर्युक्तिसंग्रह, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थ माला 189, लाखाबावल- शांतिपुरी 1989, पृ.10.

2. डा. विजय शंकर शुक्ल, विभागाध्यक्ष, कलाकोश विभाग, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली द्वारा व्याख्यान में प्रदत्त सूचना।

3. ठाणंगसुत्तं समवायंगसुत्तं च, सं. मुनि जम्बूविजय, जैन आगमग्रन्थमाला 3, महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई 36.1985, प्रस्ता. पृ.37.38.39.

4. वही, पृ. 337.

5. वही, पृ. 370.

6. वही, पृ. 37.

7. वही, पृ. 385

8. वही, पृ. 436,

9. वही, पृ. 327.

10. वही, पृ. 327,

11. वही, पृ. 329,

12. वही, पृ. 332,

13. वही, पृ. 332,

14. वही, पृ. 353,

15. वही, पृ. 360

16. वही, पृ. 417,

17. वही, पृ. 435

18. वही, पृ. 425

19. वही, पृ. 425.

20. वही, पृ. 431

21. वही, पृ. 360,

22. वही, पृ. 441.

23. वही, पृ. 335

24. वही, पृ. 363.

25. वही, पृ. 333.

26. वही, पृ. 335

27. वही, पृ. 331.

28. वही, पृ. 329.

29. वही, पृ. 376

30. वही, पृ. 410

31. अतः सेडोः अध्याय 8. पाद 3, सूत्र 2, सिद्धहेमशब्दानुशासन, प्राकृतव्याकरण, व्याख्या, पू. ज्ञानमुनि, आचार्य श्री आत्माराम जैन माडल स्कूल, देहली, 1974,

32. समवायंगसुत्तं, पूर्वोक्त पृ. 327.33. वही, पृ. 328

34. वही, पृ. 328

35. वही, पृ. 332,

36. वही, पृ. 394,

37. वही, पृ. 415.

38. वही, पृ. 414

39. वही, पृ. 431

40. वही, पृ. 406

41. वही, पृ. 468

42. वही, पृ. 470

43. वही, पृ. 345

44. वही, पृ. 353

45. वही, पृ. 367

46. वही, पृ. 368

47. वही, पृ. 382

48. वही, पृ. 382.

49. वही, पृ. 446.

50. वही, पृ. 466

51. वही, पृ. 326,

52. वही, पृ. 398.

- |                        |                   |                   |
|------------------------|-------------------|-------------------|
| 53. वही,पृ. 396        | 54. वही,पृ. 352   | 55. वही,पृ. 359   |
| 56. वही,पृ. 386        | 57. वही,पृ.394    | 58. वही,पृ. 399   |
| 59. वही,पृ. 400        | 60. वही,पृ. 404   | 61. वही,पृ. 408   |
| 62. वही,पृ. 408        | 63. वही,पृ. 409   | 64. वही,पृ.410    |
| 65. वही,पृ. 410        | 66. वही,पृ.411    | 67. वही,पृ.414    |
| 68. वही,पृ. 415        | 69. वही,पृ.415    | 70. वही,पृ.416    |
| 71. वही,पृ. 417        | 72. वही,417       | 73. वही,पृ.417    |
| 74. वही,पृ.329         | 75. वही,पृ.388    | 76. वही,पृ. 364   |
| 77. वही,पृ. 393        | 78. वही,पृ. 476   | 79. वही,पृ. 340,  |
| 80. वही,पृ. 351,       | 81. वही, पृ.469,  | 82. वही,पृ.472,   |
| 83. वही,पृ.474,        | 84. वही,पृ. 474,  | 85.सि.हेम.श.8.1.5 |
| 86. समवा,पृ. 329,      | 87. वही,पृ.404,   | 88. वही. पृ.395,  |
| 89. सिद्ध.8.1.5        | 90. समवा.,पृ. 462 | 91. वही,पृ. 462   |
| 92. वही,पृ. 462        | 93. वही,पृ. 396   | 94. वही,पृ. 409   |
| 95. वही,पृ. 453        | 96. सिद्ध.8.1.67  | 97. समवा,पृ.381   |
| 98. वही,पृ. 475        | 99. वही,पृ.403    | 100. वही,पृ.377   |
| 101. वही,पृ.377        | 102.वही,पृ.463    | 103. वही,पृ.379   |
| 104. वही,पृ.458        | 105.वही,पृ.468    | 106. वही,पृ.369   |
| 107. वही,पृ.385        | 108.वही,पृ.459    | 109. वही,पृ.447   |
| 110. वही,पृ.464        | 111.वही,पृ.382    | 112. वही,पृ.369   |
| 113. वही,पृ.398        | 114.वही,पृ.412    | 115. वही,पृ.412   |
| 116. वही,पृ.432        | 117.वही,पृ.463    | 118. वही,पृ.447   |
| 119. वही,पृ.468        | 120.वही,पृ.468    | 121. वही,पृ.470   |
| 122. वही,पृ.351व448    | 123.वही,पृ.453    | 124. वही,पृ.436   |
| 125. वही,पृ.463        | 126.वही,पृ.329    | 127. वही,पृ.339   |
| 128. वही,पृ.384        | 129.वही,पृ.392    | 130. वही,पृ.367   |
| 131.सि.हेम.श.8.2.98,99 | 132.वही, 8.2.100  | 133. वही,पृ.422   |
| 134.वही,पृ. 362        | 135.वही,पृ.386    | 136. वही,पृ.388   |
| 137.वही,पृ. 399        | 138.वही,पृ.379    | 139. वही,पृ.397   |
| 140.वही,पृ. 368        | 141.वही,पृ.332    | 142. वही,पृ.334   |
| 143.वही,पृ.373         | 144.वही,पृ. 341   | 145.वही,पृ.341    |

14 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

146.वही,पृ.374	147.वही,पृ. 346	148.वही,पृ.359
149.वही,पृ.366	150.वही,पृ. 368	151.वही,पृ.366
152.वही,पृ. 370	153.वही,पृ.372	154.वही,पृ.372
155.वही,पृ.372	156.वही,पृ.374	157.वही,पृ.370
158.सि.हेम.श.8.3.19	159.समवायंग,पृ.374	160.वही,पृ.374
161.वही,पृ.380	162.वही,पृ.380	163.वही,पृ.380
164.वही,पृ.381	165.वही,पृ.324	166.वही,पृ.385*
167.वही,पृ.374	168.वही,पृ.374	169.वही,पृ.371
170.वही,पृ.328	171.वही,पृ.328	172.वही,पृ.361
173.वही,पृ.368	174.वही,पृ.410	175.वही,पृ.423
176.वही,पृ.446	177.वही,पृ.334	178.वही,पृ.355

\*\*\*

## जैन अंग साहित्य में प्रतिबिम्बित संस्कार की वर्तमान में प्रासंगिकता

डॉ. योगेन्द्र सिंह

सुश्री श्वेता सिंह

प्राचीनकाल से ही मानवजीवन में संस्कारों का अत्यन्त महत्त्व है। इन संस्कारों का विधान मानव के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से किया गया है। जैन परम्परा में श्रावकों और श्रमणों के लिये कुछ संस्कार अलग-अलग हैं तो कुछ दोनों वर्गों के लिए आयोजित किये जाते हैं। इन संस्कारों का जैन कृतियों के आधार पर विवेचन किया गया है साथ ही वर्तमान समय में इन जैन संस्कारों की उपादेयता का भी मूल्यांकन प्रस्तुत लेख में किया गया है।- सम्पादक

जैन परम्परा का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य आगम है। जैन संस्कृति में आगमों का वही स्थान है जो वैदिक संस्कृति में वेद, इसाई संस्कृति में बाइबिल एवं बौद्ध संस्कृति में त्रिपिटक को प्राप्त है। प्रायः श्वेताम्बर परम्परा में आगमों की संख्या पैतालिस बतायी गई है। पैतालिस आगमों में प्रारम्भ के बारह आगमों को अंग साहित्य कहा गया है। इनका संकलन ई. पू. पाँचवीं शताब्दी से द्वितीय शताब्दी के समकक्ष हुआ था। बारह अंग साहित्य क्रमशः इस प्रकार हैं- आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरौपपातिक, उपासकदशांग, विपाकसूत्र, प्रश्नव्याकरण तथा दृष्टिवाद। इनमें दृष्टिवाद अनुपलब्ध है। ज्ञाताधर्मकथांग, अन्तकृद्दशांग तथा विपाकसूत्र में जातकर्म, बलिकर्म आदि संस्कारों का नामोल्लेख परिलक्षित होता है।

संस्कार की अवधारणा समाज के सापेक्ष होती है। भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही संस्कारों को धार्मिक मान्यता प्राप्त रही है। इससे मनुष्य में सामाजिक कर्तव्यों के साथ-साथ धार्मिक कार्यों की भी प्रेरणा जागृत होती है। संस्कारों को यह महत्ता वैदिक परम्परा की भाँति जैन परम्परा में भी प्राप्त रही है। जैन संस्कृति में संस्कार शब्द का अर्थ आन्तरिक दैहिक, मानसिक व बौद्धिक उन्नयन बताया गया है अर्थात् जिससे मनुष्य में मन की शुद्धता, देव-सन्निधान व धार्मिक आस्था विकसित होती है। उसे संस्कार कहते हैं।

‘संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश’ के अनुसार संस्कार से व्याकरणजन्य शुद्धि, प्रशिक्षण, श्रृंगार करने, अन्तःशुद्धि करने सम्बन्धी आदि क्रियाओं का विकास होता है।<sup>1</sup>

‘हिन्दू धर्मकोश’ के अनुसार शरीर एवं वस्तुओं की शुद्धि व विकास के लिए समय-समय जो कार्य किये जाते हैं उन्हें संस्कार कहते हैं।<sup>2</sup>

अधिकांशतः अंग साहित्य में संस्कारों का नामोल्लेख ही मिलता है, जो उत्साहपूर्वक मनाये जाते थे।

### संस्कारों की संख्या

श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक परम्परा में संस्कारों की संख्या भिन्न-भिन्न बतायी गई है। वैदिक परम्परा में संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में काफी मतभेद रहा है, यथा— मनुस्मृति में तेरह, वैखानस में अठारह, वैखानसस्मृति में सोलह व गौतम धर्मसूत्र में चालीस संस्कारों का उल्लेख मिलता है।<sup>3</sup> मनु एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में वर्णित दैहिक संस्कारों के साथ ही इनमें पाकयज्ञों की भी गणना की गई है। जबकि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में वर्णित संस्कारों के स्वरूप आदि में विशेष अन्तर नहीं है, यद्यपि अपनी-अपनी परम्परागत मान्यता के कारण कुछ अन्तर अवश्य है। जहाँ 15वीं शताब्दी के साहित्य आचारदिनकर में इनकी संख्या चालीस बतायी गई है, वहीं आदिपुराण में इनकी संख्या साँ से भी अधिक बतायी गई है। आदिपुराण में संस्कार शब्द क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है किन्तु वे संस्कार ही माने गए हैं। आदिपुराण में वर्णित तीन प्रकार की क्रियाएँ व उनकी संख्या इस प्रकार बतायी गई है, यथा— 1. गर्भान्वय क्रियाएँ, 2. दीक्षान्वय क्रियाएँ, तथा 3. कर्त्रन्वय क्रियाएँ। प्रो. भागचन्द्र जैन का मत है कि पश्चाद्द्वर्ती कालों में वैदिक संस्कृति में मान्य संस्कारों का जैनीकरण कर लिया गया।<sup>4</sup> ध्यातव्य है कि अंग साहित्य में मुनि निमित्त संस्कारों को संस्कार न कहकर विधि-विधान कहा गया तथा गर्भाधान, जातकर्म, नामकरण आदि संस्कारों का नामोल्लेख तो मिलता है, किन्तु विधि-विधानों का उल्लेख नहीं मिलता है।

(अ) गृहस्थ-संस्कार

(ब) मुनि-संस्कार<sup>5</sup>

(स) गृहस्थ व मुनि- उभय हेतु

[1] गर्भाधान-संस्कार

(1) ब्रह्मचर्यव्रतग्रहण विधि

(1) प्रतिष्ठा विधि

- |                                |                                |
|--------------------------------|--------------------------------|
| [2] पुंसवन-संस्कार             | (2) क्षुल्लक विधि              |
| (2) शान्तिककर्म विधि           |                                |
| [3] जातकर्म-संस्कार            | (3) प्रवज्या विधि              |
| (3) पौष्टिककर्म विधि           |                                |
| [4] सूर्य-चन्द्र दर्शन-संस्कार | (4) उपस्थापना विधि             |
| (4) बलिविधान विधि              |                                |
| [5] क्षीराशन-संस्कार           | (5) योगोद्धहन विधि             |
| (5) प्रायश्चित्त विधि          |                                |
| [6] षष्ठी-संस्कार              | (6) वाचनाग्रहण विधि            |
| (6) आवश्यक विधि                |                                |
| [7] शुचि-संस्कार               | (7) वाचनानुज्ञा विधि           |
| (7) तप विधि                    |                                |
| [8] नामकरण-संस्कार             | (8) आचार्य-पदस्थापन विधि       |
| (8) पदारोपण विधि               |                                |
| (9) अन्नप्राशन-संस्कार         | (9) उपाध्याय-पदस्थापन विधि     |
| (10) कर्णवेध-संस्कार           | (10) प्रतिमा-उद्धहन विधि       |
| (11) चूणाकरण-संस्कार           | (11) साध्वी की दीक्षा विधि     |
| (12) उपनयन-संस्कार             | (12) प्रवर्तिनीपद-स्थापना विधि |
| (13) विद्यारम्भ-संस्कार        | (13) महत्तरापदस्थापन विधि      |
| (14) विवाह संस्कार             | (14) अहोरात्रिचर्या विधि       |
| (15) व्रतारोपण संस्कार         | (15) ऋतुचर्या विधि             |
| (16) अन्त्य-संस्कार            | (16) अन्तिमसंलेखना विधि        |

### गृहस्थ संस्कार

(1) गर्भाधान संस्कार- इस संस्कार का प्रायोजन गर्भ की प्रसिद्धि एवं रक्षा के उद्देश्य से किया जाता था। वैदिक परम्परा में यह संस्कार सन्तान की प्राप्ति के लिए किया जाता था।



(2) **पुंसवन संस्कार**- पुंसवन का अर्थ है, वह कर्म जिसके अनुष्ठान से 'पुंयुमान' अर्थात् पुरुष का जन्म हो। यह संस्कार गर्भस्थ शिशु के समुचित विकास व बालक को दुर्गुणों से बचाने हेतु किया जाता था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह संस्कार ब्राह्मणों द्वारा कराया जाता था। वैदिकों में इस संस्कार के सन्दर्भ में यह उल्लेख मिलता है कि तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए यह संस्कार किया जाता था।<sup>6</sup>

(3) **जातकर्म संस्कार**- ये संस्कार वैदिक व श्रमण दोनों संस्कृतियों में बालक-बालिका के जन्मोपरान्त शुभ मुहूर्त, दिन, नक्षत्र में महोत्सव की भाँति मनाया जाता था। अंग साहित्य ज्ञाताधर्मकथांग<sup>7</sup> में इसे नाल-काटना कहा गया है। सुबाहु कुमार<sup>8</sup> व देवदत्त<sup>9</sup> के जातकर्म संस्कार के पश्चात् बाद के संस्कार हुए थे।

(4) **सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार**- इस संस्कार का उद्देश्य शिशु को प्रत्यक्ष रूप से सृष्टि का दर्शन कराना था। इसमें बालक को सर्वप्रथम सूर्य एवं चन्द्रमा का दर्शन कराया जाता था। वैदिक परम्परा में यह संस्कार प्रथम बार शिशु को शुद्ध वायु का सेवन कराना था।<sup>10</sup> ज्ञाताधर्मकथांग में जन्म के तीसरे दिन यह संस्कार किये जाने का उल्लेख मिलता है।<sup>11</sup> औपपातिक सूत्र में यह संस्कार जन्म के दूसरे दिन किये जाने का उल्लेख मिलता है।<sup>12</sup> व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार राजा बलराम व प्रभावती ने अपने पुत्र को सूर्य-चन्द्रदर्शन संस्कार कराया था।<sup>13</sup>

(5) **क्षीरासन संस्कार**- यहाँ क्षीर से तात्पर्य दूध से है। इस संस्कार में बालक को सर्वप्रथम दुग्ध का आहार कराया जाता था।

(6) **षष्ठी संस्कार**- बालक के जन्म के छठे दिन यह संस्कार आयोजित किया जाता था। इसमें शिशु की माता सहित कुल-वृद्धाएँ, स्त्रियाँ आदि गीत गाते हुए एवं वाद्ययंत्र बजाते हुए रात्रि जागरण करती थीं। ज्ञाताधर्मकथांग में इसे जागरिका (रात्रि-जागरण) कहा गया है।<sup>14</sup>

(7) **शुचिकर्म**- इस संस्कार का मूल प्रयोजन शुद्धिकरण करना था। इसमें माता को स्नान कराया जाता है। अंग साहित्य में इसके विधि-विधानों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

(8) **नामकरण संस्कार**- नामकरण संस्कार का उद्देश्य बालक को समाज से एवं समाज को अवतरित आगन्तुक (शिशु) से परिचित कराना था अर्थात् इसमें शिशु का नाम रखा जाता था। यह संस्कार महोत्सव की भाँति शिशु जन्म के दसवें तथा बारहवें दिन मनाया जाता था।<sup>15</sup> भारतीय संस्कृति में अति प्राचीन काल से ही व्यक्तिगत नामों को महत्ता प्राप्त रही है जिसके फलस्वरूप नामकरण

की प्रथा को धार्मिक संस्कार में परिणत किया गया है। सर्वप्रथम माता-पिता स्नान करके विपुल, वस्त्र, गंध, माला और अलंकार से भिन्न-भिन्न ज्ञातिजनों, स्वजन परिजन को सम्मानित करने के पश्चात् शिशु का नामकरण कराते थे।<sup>16</sup> द्रौपदी का नाम उसके पिता द्रुपद ने अपने नाम के आधार पर द्रौपदी रखा था।<sup>17</sup> व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार राजा बल ने इस संस्कार के पश्चात् अपने पुत्र का नाम महाबल रखा था।<sup>18</sup> यह संस्कार जन्म के बारहवें दिन आयोजित किया जाता था।<sup>19</sup>

( 9 ) अन्नप्राशन संस्कार- यह संस्कार बालक जन्म के छठें एवं बालिका जन्म के पाँचवें माह में मनाया जाता था। इसमें शिशु को प्रथम बार आहार ग्रहण कराया जाता था। राजप्रश्नीयसूत्र में इसके विधि-विधानों का संक्षिप्त वृत्तान्त मिलता है।<sup>20</sup>

( 10 ) कर्णवेध संस्कार- शिशु जन्म के तीसरे, पाँचवें व सातवें माह में विधि-विधान से कर्ण आभूषण पहनाया जाता था। यह संस्कार शिशु को रोग व्याधि से बचाने हेतु किया जाता था। कुछ विशेष नक्षत्रों यथा- उत्तराषाढ, उत्तराफाल्गुणी, हस्त, रोहिणी, रेवती, मृगाशीर्ष व पुष्य नक्षत्र में आयोजित किया जाता था।<sup>21</sup> तत्कालीन बौद्ध संस्कृति में यह संस्कार कर्णछेदन नाम से प्रचलित था।<sup>22</sup>

( 11 ) चूड़ा संस्कार- चूड़ा शब्द से तात्पर्य बालक के बालों के गुच्छों से है जो मुण्डित सिर पर रखा जाता था। इस संस्कार के निमित्त बालक जन्म के प्रथम बार शिखा (बालगुच्छ) रखकर शेष सिर के बालों का मुण्डन किया जाता था। दिगम्बर परम्परा में इस संस्कार को केशवाय अथवा चौलक्रिया कहा गया है। बौद्ध साहित्य के अनुसार यह संस्कार प्रव्रज्या के समय सम्पन्न होता था।<sup>23</sup>

( 12 ) उपनयन संस्कार- उपनयन का शाब्दिक अर्थ समीप ले जाने से है। इस संस्कार में बालक को आचार्य के पास ले जाकर विधि-विधान से दीक्षा ग्रहण करायी जाती थी। इस संस्कार के पश्चात् बालक विद्याध्ययन के योग्य माना जाता था। परवर्ती साहित्य के अनुसार यज्ञोपवीत को धारण किये बिना बालक को श्रावकधर्म के पालन का मुनिदान का अधिकारी नहीं माना जाता था।<sup>24</sup> व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार राजा बल ने अपने पुत्र का उपनयन संस्कार सम्पन्न कराया था।<sup>25</sup>

( 13 ) विद्यारम्भ संस्कार- इस संस्कार में बालक को प्रथम बार अक्षरज्ञान कराया जाता था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में इसे 'विद्यारम्भ' व दिगम्बर सम्प्रदाय में 'लिपिसंख्या क्रिया' कहा गया है। अंग साहित्य ज्ञाताधर्मकथांग में इसका केवल

नामोल्लेख मिलता है।<sup>26</sup> वैदिक युग में वेद का अध्ययन करना शिक्षा का प्रधान अंग था।<sup>27</sup>

(14) **विवाह संस्कार**- विवाह संस्कार को न केवल भारतीय संस्कृति में वरन् अन्य संस्कृतियों में भी महत्ता प्रदान की गई है। प्रायः युवावस्था प्राप्त होने पर ही शुभ तिथि-नक्षत्र में विवाह संस्कार का आयोजन किया जाता था। यह संस्कार भी विधि-विधान व उल्लासपूर्वक मनाया जाता था।<sup>28</sup>

(15) **व्रतारोपण संस्कार**- जब गृहस्थ का झुकाव श्रावक जीवन की ओर आकृष्ट होता था, तब व्रतारोपण संस्कार किया जाता था। जैन अंग साहित्य<sup>29</sup> में इस संस्कार को करने वाले अनेक श्रावकों का उल्लेख मिलता है यथा- आनन्द, चुलणिपिता, कामदेव आदि जिन्होंने पंच अणुव्रत, ग्यारह प्रतिमा, शिक्षाव्रत, गुणव्रत आदि व्रतों का पालन किया था। व्यक्ति चाहे कितना भी यश, वैभव, विद्या आदि प्राप्त कर ले, किन्तु जब तक वह धार्मिक आचरण नहीं करता है तब तक उसका जीवन व्यर्थ रहता है। अतः इस संस्कार का प्रयोजन व्यक्ति के जीवन को धर्ममय बनाना था।

(16) **अन्त्य संस्कार**- अन्त्य संस्कार से तात्पर्य यहाँ मरण के पश्चात् शव की अन्तिम क्रिया से है। यह मानव जीवन का अन्तिम संस्कार माना जाता है। बौद्धायन धर्मसूत्र के अनुसार अंत्येष्टि संस्कार द्वारा व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करता है।<sup>30</sup>

### मुनि सम्बन्धी संस्कार

(1) **ब्रह्मचर्य-व्रतग्रहण विधि**- ब्रह्म शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है ब्रह्म+चर्य। यहाँ ब्रह्म का अर्थ 'आत्मा' या 'परमतत्त्व' तथा चर्या का अर्थ 'रमण' करने से है। अतः आत्मा में रमण करने को ब्रह्मचर्य कहा गया है। इस संस्कार में मुनि अपनी इन्द्रियों को संयमित करता है। मुनियों के लिए यह संस्कार नितान्त आवश्यक था। इसमें तीन वर्ष की अवधि के परीक्षण में सफल होने पर ही प्रव्रज्या प्रदान की जाती थी।

(2) **क्षुल्लक विधि**- क्षुल्लक शब्द का तात्पर्य यहाँ 'लघु' शब्द से है। प्राचीनकाल में क्षुल्लक को लघुमुनि (सम्यक् चारित्र का पालन करने वाला) भी कहा जाता था। क्षुल्लक गुरु की आज्ञा प्राप्त कर मुनि की तरह धर्मोपदेश देते हुए तीन वर्ष की अवधि तक विचरण करते थे तथा संयम की यथावत परिकल्पना करने पर तीन वर्ष पश्चात् दीक्षा ग्रहण करते थे। 'आचारदिनकर' के अनुसार इस संस्कार का उद्देश्य प्रव्रज्या के पूर्व व्यक्ति की योग्यता का परीक्षण

करना था।<sup>11</sup>

( 3 ) **प्रव्रज्या विधि-** प्रव्रज्या शब्द का अर्थ यहाँ संन्यास ग्रहण करने से है। इसके माध्यम से साधक को यावत्-जीवन सामायिक व्रत के पालन की प्रतिज्ञा करायी जाती थी। आगम काल में यह संस्कार निर्ग्रन्थ मुनि द्वारा कराया जाता था। इस संस्कार का उद्देश्य साधक को सांसारिक बुराइयों से दूर रखना था। वर्तमान समय में यह संस्कार निर्ग्रन्थ मुनियों द्वारा ही कराया जाता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार श्रेष्ठि कार्तिक ने प्रव्रज्या संस्कार का पालन किया था।<sup>12</sup> ज्ञाताधर्मकथानुसार पाँचों पाण्डवों ने धर्मघोष स्थविर से प्रव्रज्या ग्रहण किया था।<sup>13</sup>

( 4 ) **उपस्थापन विधि-** उपस्थापन से तात्पर्य आत्मा के निकट उपस्थित रहने या आत्मा में रमण करने से है। इस संस्कार का पूर्व नाम छेदोपस्थापनीय चारित्र है। इसमें शिष्य को नये वस्त्राभूषण पहनाकर गुरु द्वारा तीन बार पंचपरमेष्ठीमंत्र का उच्चारण कराकर पंचमहाव्रतों व रात्रिभोजन-त्याग का आरोपण कराया जाता था। इस संस्कार के पश्चात् ही मुनि संघ का स्थायी सदस्य बनता था।

( 5 ) **योगोद्बहन संस्कार-** इस संस्कार के माध्यम से मुनि मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों का निग्रह करके आगमों के अध्ययन योग्य बनता है। यह संस्कार विशिष्ट गुणों के धारक उपाध्याय आदि द्वारा कराया जाता है। ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अंतकृद्दशांग, प्रश्नव्याकरणसूत्र में इसकी विधियों का विवेचन मिलता है।

( 6 ) **वाचनानुग्रहण विधि-** वाचनानुग्रहण से तात्पर्य विधिपूर्वक सिद्धान्त ग्रन्थों के सूत्रार्थ को ग्रहण करने से है। यह संस्कार निर्ग्रन्थ मुनियों द्वारा कराया जाता था। ध्यातव्य है कि वैदिक संस्कृति व दिगम्बर सम्प्रदाय में इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता है।

( 7 ) **वाचनानुज्ञा विधि-** वाचनानुज्ञा शब्द दो शब्द वाचना+अनुज्ञा से बना है- यहाँ वाचना शब्द से तात्पर्य अध्ययन करने व कराने से है। इस संस्कार का उद्देश्य योग्य मुनि को आचार्य पद प्रदान किये बिना शिष्यों को अध्ययन कराने की अनुमति प्रदान करना था। इसमें वाचना देने वाले (गुरु) और वाचना लेने वाले (शिष्य) दोनों ही लाभान्वित होते थे। मोक्ष प्राप्त करने वाले साधु-साध्वियों हेतु यह संस्कार अत्यन्त आवश्यक था। यह संस्कार भी आचार्य द्वारा कराया जाता था।

( 8 ) **उपाध्याय पद-प्रदान विधि-** यहाँ उप से तात्पर्य समीप तथा अध्याय से तात्पर्य अध्ययन करने से है अर्थात् जिसके समीप बैठकर अध्ययन किया जा

सके उसे उपाध्याय कहते हैं। भिक्षुआगम कोश के अनुसार सूत्रार्थ के ज्ञाता तथा सूत्रार्थ द्वारा शिष्यों के निष्पादन में जो कुशल हो, उसे उपाध्याय कहते हैं।<sup>34</sup> मूलाचार के अनुसार जिसके पास जाकर अध्ययन किया जाय उसे उपाध्याय कहते हैं।<sup>35</sup> यह संस्कार भी योग्य आचार्य द्वारा कराया जाता था जिसमें शिष्य को द्वादशांगी का अध्ययन कराया जाता था।

(9) आचार्य पदस्थापन विधि- आवश्यकनिर्युक्ति<sup>36</sup> के अनुसार जो पाँच प्रकार के आचारों- ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का स्वयं अनुपालन करते हैं, उनके पालन का उपदेश व प्रशिक्षण देते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। कोशग्रन्थ के अनुसार साधुओं की शिक्षा-दीक्षादायक, दोष-निवारक तथा अन्य विशिष्ट गुणों के संघनायक को आचार्य कहा गया है।<sup>37</sup> इस संस्कार के प्रायोजन का मुख्य उद्देश्य संघ व्यवस्था का भार योग्य मुनि को सौंपना था। यह संस्कार विशेष नक्षत्र मुहूर्त में किया जाता था।

(10) प्रतिमोद्धहन संस्कार- जैन परम्परा में प्रतिमा शब्द से तात्पर्य प्रतिज्ञा, नियम से है। इस संस्कार का उद्देश्य मन, वचन व काय की दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करना था। अतः साधना के इच्छुक श्रमण व श्रावक को प्रतिमा व्रत का पालन करना आवश्यक था। इससे सम्बन्धित समस्त क्रियाएँ मुनि स्वयं ही करता था।

(11) साध्वी दीक्षा सम्बन्धी विधि- मुनियों की भाँति श्रमणियों के लिए भी संस्कार आयोजित किये जाते थे। यह संस्कार आचार मुनियों द्वारा आयोजित किया जाता था, किन्तु वेशदान, चोटी लेना आदि वरिष्ठ साध्वियों द्वारा कराया जाता था। स्त्री को भी दीक्षा लेने के पूर्व अपने संरक्षक (माता-पिता) की अनुमति लेना आवश्यक था। दीक्षा के पूर्व में कुछ नियमों से अवगत कराया जाता था, तत्पश्चात् दीक्षा प्रदान की जाती थी। सुकुमालिका ने भी गोपालिका आर्या से दीक्षित होकर संघ में प्रवेश किया था।<sup>38</sup>

(12) प्रवर्तिनी-पदस्थापन विधि- साध्वी समुदाय का प्रवर्तन करने वाली साध्वी को प्रवर्तिनी कहते थे। इनका मुख्य कार्य साध्वियों को वाचना प्रदान करना था। स्थानांगसूत्र के अनुसार साध्वियाँ (प्रवर्तिनी) अन्य योग्य साध्वियों को प्रवर्तिनी-पद पर नियुक्त कर सकती थीं।<sup>39</sup> यह संस्कार भी विधि-विधान से शुभ-नक्षत्र व तिथि में आयोजित किया जाता था।

(13) महत्तरापदस्थापन विधि- महत्तरा शब्द से तात्पर्य प्रधान व मुखिया से है। श्रमणी संघ की प्रमुख साध्वी को महत्तरा कहा जाता था। इसमें साध्वी को महत्तरा-पद पर नियुक्त करने के पूर्व विधि-विधानों से अवगत कराया जाता है।

( 14 ) अहोरात्रिचर्या संस्कार- यहाँ अहोरात्रि का अर्थ दिन व रात तथा चर्या का अर्थ आचरण विधि से है। प्रत्येक व्यक्ति की कुछ न कुछ दैनिक चर्या होती है, जिसे वह नियमित रूप से करता है, किन्तु मुनि जीवन की कुछ विशिष्ट चर्याएँ होती हैं, जिनका आचरण करना मुनि के लिए आवश्यक होता है। यथा- कैसे साधु व साध्वियाँ प्रातःकाल उठकर पंचपरमेष्ठी को याद करते हुए पूरा दिन व्यतीत करें तत्पश्चात् अपने आगे के कार्य करें आदि। अतः इस संस्कार में उनके पूरे दिन के कार्यों का उल्लेख मिलता है।

( 15 ) साधुओं की ऋतुचर्या विधि- यहाँ ऋतुचर्या से तात्पर्य ऋतु विशेष में की जाने वाली क्रियाओं के आचरण विधि से है अर्थात् किन-किन ऋतुओं में मुनि को किस प्रकार आहार-विहार आदि करना चाहिये, कैसे वस्त्र धारण करना चाहिये आदि। आचारांगसूत्र में 'भिक्षु के ऋतु सम्बन्धी वास (विहारचर्या),<sup>40</sup> वस्त्र,<sup>41</sup> पात्र, खान-पान<sup>42</sup> आदि विधिविधानों का वर्णन मिलता है।

( 16 ) अन्तिम-संलेखना विधि- यहाँ अन्तिम से तात्पर्य जीवन के अन्तिम चरण से तथा संलेखना से तात्पर्य शरीर व कषाय के कृशीकरण से है अर्थात् मनुष्य अपने अन्तिम समय में जिस आराधना से शरीर एवं कषाय का कृशीकरण करता है, उसे अन्तिमसंलेखना कहते हैं। इस संस्कार का उद्देश्य मुनि को जीवन के अन्तिम क्षणों में आराधना करवाना है। यह संस्कार भी आचार्य, उपाध्याय, वाचनाचार्य अथवा मुनि द्वारा कराया जाता था। श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार संलेखना बारह वर्ष, एक वर्ष तथा छः मास की होती थी।<sup>43</sup> भिक्षु आगम कोश में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।<sup>44</sup>

### गृहस्थ व मुनि के आठ संस्कार

कुछ संस्कार गृहस्थ व मुनि दोनों के लिए समान रूप से होते थे। इनका अंग साहित्य में केवल नामोल्लेख मिलता है। वैदिक संस्कृति में भी इन संस्कारों को धार्मिक कृत्य माना गया था जो निम्न हैं-

( 1 ) प्रतिष्ठा संस्कार- प्रतिष्ठा शब्द से तात्पर्य यहाँ किसी स्थान के स्थायित्व से है। इस संस्कार में मूर्ति विशेष को नाम देकर पूज्यता प्रदान की जाती थी जिससे मूर्ति में शक्ति उत्पन्न हो जाती थी। यह संस्कार शुभ नक्षत्र, दिन, तिथि में किया जाता था। मेघकुमार श्रावक ने दीक्षा के पूर्व भिक्षु प्रतिमाओं का पूजन किया था।<sup>45</sup>

( 2 ) शान्ति कर्म संस्कार- शान्तिकर्म से तात्पर्य संकट को दूर करने के लिए किये जाने वाले अनुष्ठान से है।<sup>46</sup> सूतक समय को छोड़कर किसी भी समय रोग, दोष, महापाप होने पर यह क्रिया करायी जाती थी। कभी-कभी राजा विजयी होने, भय मुक्त होने व शत्रुओं का नाश करने हेतु भी यह संस्कार करते थे।

( 3 ) पौष्टिक कर्म संस्कार- पौष्टिक शब्द से तात्पर्य वृद्धि कारक सं है। यह संस्कार विशेष नक्षत्र व दिन में गुरु द्वारा कराया जाता था। सूतक के समय इसका निषेध था।<sup>47</sup>

( 4 ) बलि विधान संस्कार- जैन परम्परा में बलि का अर्थ 'नैवेद्य' से बताया गया है। नैवेद्य से तात्पर्य देवताओं को खुश रखने के लिए उन्हें नैवेद्य ( भोजन ) अर्पित करने से है। वैदिक संस्कृति में नैवेद्य को 'वैश्वदेव' कहा गया है। जहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह संस्कार गृहस्थ गुरु द्वारा कराया जाता था, वहीं दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि द्वारा कराया जाता था। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अनुसार राजा महाबल ने इस संस्कार का आयोजन करते समय सभी मित्र व जानीजनों को आमंत्रित किया था।<sup>48</sup> इसी प्रकार राजा जितशत्रु<sup>49</sup> व अभयकुमार<sup>50</sup> ने बलिकर्म करके अपने आगे के कार्यों को सम्पन्न किया था।

( 5 ) प्रायश्चित्त संस्कार- प्रायश्चित्त से तात्पर्य तप, चित्त-दृढ़संकल्प से है। अभिधान राजेन्द्रकोश के अनुसार 'पापं छिन्नतीति पायच्छित्त' अर्थात् जो पापों का छेदन करे उसे प्रायश्चित्त कहते हैं।<sup>51</sup> जैन शब्दकोश में प्रायश्चित्त शब्द के संदर्भ में कहा गया है कि प्रति समय लगने वाले अंतरंग व बाह्य दोषों की निवृत्ति करने के लिए किये गये पश्चाताप, उपवास आदि को ग्रहण करना प्रायश्चित्त कहलाता है।<sup>52</sup> अतः इस संस्कार का उद्देश्य अन्तःकरण की शुद्धि करना था। यह कर्म दीक्षा लेने के पूर्व प्रत्येक श्रावक-श्राविका व श्रमण-श्रमणियों द्वारा गुरु के सान्निध्य में किया जाता था।

( 6 ) आवश्यक संस्कार- दिवस, रात्रि, मास एवं वर्ष भर के पापों की विशुद्धि के लिए सम्मिलित रूप से जो आवश्यक कर्म किया जाता था उसे आवश्यक संस्कार कहा जाता था। भिक्षुआगम कोश के अनुसार मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना, दिन-रात में करणीय क्रमिक समाचारी का आचरण आदि समस्त क्रियायें आवश्यक संस्कार कहलाती हैं।<sup>53</sup> जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार व्याधि, रोग, अशक्तता इत्यादि विकार जिसमें हैं, ऐसे व्यक्ति को अवश्य कहते हैं तथा ऐसे व्यक्ति की जो क्रियायें होती हैं उनको आवश्यक कहते हैं। परवर्ती साहित्य के अनुसार साधु-साध्वियों एवं श्रमण-श्रमणियों के लिए यह क्रिया

प्रतिदिन आवश्यक रूप से करणीय होती थी।<sup>54</sup> इस संस्कार को करने के पूर्व उन्हें गुरु से आज्ञा लेनी होती थी। इस संस्कार की महत्ता इसी से सिद्ध होती है कि आचारांगसूत्र में भगवान महावीर ने कहा है कि आत्मा में ही समस्त सुख-दुःख के बीज छिपे होते हैं। अतः सुख की प्राप्ति के लिए आवश्यक संस्कार अनिवार्य हैं।<sup>55</sup> आगम ग्रन्थों में कहा गया है कि जैसे बाल और ग्लान के लिए आहार आवश्यक होता है, वैसे ही गुरु आज्ञा के अनुपालन और मांक्षाभिलाषी भव्य जीवों के लिए अनुष्ठान आवश्यक होता है।<sup>56</sup>

( 7 ) तप-विधि- जिस क्रिया द्वारा शरीर के रस, रुधिर आदि की शुद्धि हो उसे तप कहा जाता है। राजवार्तिक के अनुसार जो कर्म को भस्म करे, उसे तप कहते हैं।<sup>57</sup> तप क्रिया निर्ग्रन्थ मुनियों द्वारा करायी जाती थी। अंग साहित्य में श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका सभी के द्वारा तप क्रिया किये जाने का उल्लेख मिलता है। यथा- श्रेष्ठी कार्तिक<sup>58</sup> ने चतुर्थ (उपवास), राजा शिव<sup>59</sup> ने दिकपोक्षक, धन्यकुमार<sup>60</sup> व महाबल<sup>61</sup> ने उपवास, बेला, तप करते हुए अपनी साधना को पूर्ण किया था।

( 8 ) पदारोपण संस्कार- यहाँ पद से तात्पर्य सम्मानजनक स्थान, पदवी आदि से है। जिस विधि के द्वारा किसी व्यक्ति को पदवी या कोई सम्मानजनक स्थान प्रदान किया जाता है, उसे पदारोपण-विधि कहते हैं। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य विभिन्न पदों पर योग्य व्यक्तियों को स्थापित करना था। यह कार्य भी आचार्य द्वारा कराया जाता था।

अतः जैन संस्कृति में भी संस्कारों की सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यवत्ता रही है। संस्कार को मात्र कर्मकाण्ड न मानकर जीवन निर्माण का सूत्र भी माना गया है। इस संस्कृति में गृहस्थ व मुनि दोनों के लिए संस्कारों का प्रयोजन किया गया था।

### उपसंहार

मानव शिशु के उज्ज्वल भविष्य व समाज के चतुर्मुखी विकास के लिए उसका संस्कारवान् होना आवश्यक रहा है। संस्कारों के अभाव में उसका जीवन मुरझाये हुए फूलों के समान हो जाता है जो उचित वातावरण के अभाव में समुचित ऊर्जा नहीं दे पाता है। विविध संस्कारों के माध्यम से सदाचार, विनय, क्षमा, दया, सत्य, अहिंसा आदि गुणों का विकास होता है, जो परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व में शान्ति स्थापित करने में सहयोगी होता है। जैन संस्कृति में प्रचलित चालीस संस्कार न केवल प्राचीन मानव समाज के पारिवारिक, आर्थिक एवं



आध्यात्मिक जीवन हेतु प्रासंगिक थे, वरन् आधुनिक समाज हेतु भी प्रासंगिक हैं। प्रत्येक संस्कार की प्रासंगिकता भिन्न-भिन्न है। वर्तमान में मातृ-शिशु मृत्यु दर बढ़ता जा रहा है जिसका कारण माता व शिशु की देखरेख का समुचित अभाव है। यद्यपि इसके लिए सरकार द्वारा कई योजनाएँ चलायी जा रही हैं जो पूर्णतया सफल नहीं हैं। गर्भाधान व जन्म संस्कार- ये दोनों गर्भस्थ शिशु व माता को संरक्षण प्रदान करते हैं। वर्तमान में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से शिशु में परोपकार, सौम्यता, दया, दान आदि गुणों का अभाव होता जा रहा है। सूर्य-चन्द्र दर्शन संस्कार से बालक को बाह्य जगत् से परिचित कराकर उसमें इन गुणों का विकास किया जाता है। षष्ठी संस्कार माता के मूल एवं महत्त्व को स्पष्ट करता है। नाम व्यक्ति पर बहुत गहरा प्रभाव डालते हैं। कई बार व्यक्ति की सफलता का माध्यम भी उनके नाम होते हैं। वर्तमान में दम्पति दिखावे के प्रभाव में आकर कोई भी नाम रख देते हैं। नामकरण संस्कार के माध्यम से शिशु का नामकरण शुभ-नक्षत्र और गुणों के आधार पर रखा जाता है जिससे उनका भावी जीवन उज्ज्वल होता है। वर्तमान में शिशु कई प्रकार के भयावह रोग से जकड़ता जा रहा है। अन्नप्राशन संस्कार जहाँ शिशु में आहार-विवेक का विकास करता है, वहीं कर्णवेध संस्कार उन्हें रोगों से मुक्त रखता है।

वर्तमान में गुरु-शिष्य सम्बन्ध भी कटु होता जा रहा है, जिसका मुख्य कारण गुरु की पुरानी विचारधारा व विद्यार्थी की आधुनिक विचारधारा है। इस संस्कार से गुरु-शिष्य के मध्य मधुर सम्बन्ध पूर्ववत् कायम रहता है। वर्तमान में गृहस्थों को मर्यादित, सुरक्षित रखने के लिए यह संस्कार प्रेरणा जागृत करता है। मानव जीवन में यह संस्कार नहीं होता तो शायद वर्तमान में हमें भाई-बहन, माता-पिता के मध्य जो मर्यादित और सम्मानित सम्बन्ध दिखते हैं वे नहीं दिखते। इसी प्रकार व्रतारोपण संस्कार व्यक्ति में अहिंसा, सत्यवादिता तथा ईमानदारी की भावना विकसित करता है अर्थात् व्यक्ति में नीतिपरक मूल्यों का विकास करता है।

आधुनिक युग में व्यक्ति में एकाग्रचित्तता (ध्यान) का अभाव होता जा रहा है। व्यक्ति में अध्यात्म, एकाग्रचित्तता की किरणों को प्रस्फुटित करने में इस संस्कार की सराहनीय भूमिका है। प्रव्रज्या संस्कार शिशु को सभी प्रकार के व्रतों के निर्वहन का बोध कराते हैं तथा योगोद्धवहन विधि आत्मसुख की भावना विकसित करती है। श्रमण-श्रमणियों के जीवन में स्थिरता, मानसिक शक्ति व अनुशासन का विकास आचार्यपदस्थापन से सम्भव है। इसी प्रकार समाज में व्याप्त हिंसा, अशान्ति व अपराध जैसे बुरे कर्मों का त्याग भी इसमें निहित है।

## सन्दर्भ सूची

1. झा, डॉ. विजय कुमार, संस्कारों का महत्त्व, श्रमण (लेख), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान (वर्तमान में पार्श्वनाथ विद्यापीठ), वाराणसी, वर्ष 54, अंक 1. 3. 2003, पृ. 11
2. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत-हिन्दी कोश, भारती विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1999, पृ. 1051
3. पाण्डेय, राजबली, हिन्दू धर्म कोश, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, गांधी मार्ग, लखनऊ, 1978, पृ. 645
4. मनुस्मृति, क्षेमराज कृष्णदास, प्रकाशन 2.16.36, पृ. 25.29
5. जैन, भागचन्द्र, जैन दर्शन संस्कृति का इतिहास, न्यू एक्सटेंशन एरिया, नागपुर, 1997, पृ. 390
6. दुबे, डॉ. राजदेव, स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 44
7. ज्ञाताधर्मकथांग, सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.). 1985, 1.1.93, पृ. 46
8. हस्तीमल जी महाराज, आगम के अनमोल रत्न, घनराम घासीराम कोठारी, लक्ष्मी पुस्तक भण्डार, गांधी मार्ग, अहमदाबाद, 1968, पृ. 545
9. वही, पृ. 315
10. पाण्डेय, डॉ. राजबली, हिन्दू संस्कार, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1966, पृ. 111
11. ज्ञाताधर्मकथांग, सं. मधुकर मुनि, 1.1.93, पूर्वोक्त, पृ. 46
12. औपपातिकसूत्र, सं. मधुकर मुनि, पूर्वोक्त, 105, पृ. 148
13. व्याख्याप्रज्ञप्ति, सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.). 3.2.44, पृ. 88
14. ज्ञाताधर्मकथांग, सं. मधुकर मुनि, 1.2.93, पूर्वोक्त, पृ. 46
15. पाण्डेय, डॉ. राजबली, हिन्दू संस्कार, पूर्वोक्त, पृ. 99
16. सिन्हा, मनीषा, जैन व बौद्ध आगमों में लोक धर्म, पृ. 169
17. ज्ञाताधर्मकथांग, सं. मधुकर मुनि, 1.16.82, पूर्वोक्त, पृ. 421
18. व्याख्याप्रज्ञप्ति, सं. मधुकर मुनि, 3.11.1, पूर्वोक्त, पृ. 88
19. ज्ञाताधर्मकथांग, सं. मधुकर मुनि, 1.1.97, पूर्वोक्त, पृ. 47
20. राजप्रश्नीयसूत्र, सं. मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.) 1982, सू. 280, पृ. 206
21. वही, सूत्र 280, पृ. 206
22. जातक (जिल्द 2), पृ. 381

28 : श्रमण. वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

23. श्रीवास्तव, डॉ. कृष्णकुमारी, पालि जातक साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, सुलभ प्रकाशन, 17 अशोक मार्ग, लखनऊ, 1984, पृ. 173
24. श्रावकाचार संग्रह (भाग-4), हीरालाल सिद्धान्त अलंकार, लालचन्द्र हीराचन्द्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, महाराष्ट्र, 1976, पृ. 80
25. व्याख्याप्रज्ञप्ति, सं. मधुकर मुनि, 3.1, पूर्वोक्त, पृ. 91
26. ज्ञाताधर्मकथांग, सं. मधुकर मुनि, 1.1.98, पूर्वोक्त, पृ. 48
27. वही, 1.1.98, पृ. 48
28. मिश्र, डॉ. जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1983, पृ. 20
29. उपासकदशांग, सं. मधुकर मुनि, 1.16, पृ. 56
30. बौद्धायन धर्मसूत्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1934, पृ. 43
31. आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, निर्णयसागर मुद्रणालय, बाम्बे, 1922, पृ. 391
32. व्याख्याप्रज्ञप्ति, सं. मधुकर मुनि, 3.18.2, पूर्वोक्त, पृ. 675
33. ज्ञाताधर्मकथांग, सं. मधुकर मुनि, 1.16.21, पूर्वोक्त, पृ. 217
34. भिक्षुआगमकोश भाग 1, (सं.) आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, 1996, पृ. 151
35. जैन, डॉ. फूलचन्द्र एवं श्रीमती मुन्नी, मूलाचार, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद, 1996, पृ. 116
36. पंचविहं आयारं आयरमाणा तथा पभासंता। आयारं दंसंता आयारिणा तेण बुच्चंति।। भिक्षुआगम कोश (भाग 1), (सं.) महाप्रज्ञ, पृ. 89
37. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश (भाग 1), जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1970 पृ. 241
38. ज्ञाताधर्मकथांग, सं. मधुकर मुनि, 1.16.68, पूर्वोक्त, पृ. 417
39. डॉ. साध्वी विजयाश्री, जैन श्रमणियों का वृहद् इतिहास, पृ. 36
40. आचारांगसूत्र, सं. मधुकर मुनि, 2.2.2, पूर्वोक्त, पृ. 114
41. वही, सं. मधुकर मुनि, 2.2.5, पूर्वोक्त, पृ. 233
42. वही, सं. मधुकर मुनि, 2.2.6, पूर्वोक्त, पृ. 262
43. उत्तराध्ययनसूत्र, सं. साध्वी चन्दना, वीरायतन प्रकाशन, आगरा-2, 1972, 36.251, पृ. 416
44. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, जिनेन्द्रवर्णी, पृ. 388
45. आप्टे, वामन शिवराम. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, पूर्वोक्त, पृ. 10-11
46. आचारदिनकर, वर्धमानसूरिकृत, पृ. 238
47. व्याख्याप्रज्ञप्ति, सं. मधुकर मुनि, 3.16.5, पूर्वोक्त, पृ. 363
48. ज्ञाताधर्मकथांग, सं. मधुकर मुनि, 1.12.4, पूर्वोक्त, पृ. 322

49. वही, 1.1.58, पृ. 32
50. अभिधानराजेन्द्रकोश ( भाग 5 ), राजेन्द्रसूरी, पृ. 855
51. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश ( भाग 1 ), जिनेन्द्रवर्णी, पृ. 157
52. भिक्षुआगम कोश, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 124-125
53. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश ( भाग 1 ), जिनेन्द्रवर्णी, पृ. 279-280
54. विशंपावश्यकभाष्य ( भाग 1 ), जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, दिव्य दर्शन ट्रस्ट,  
68. गुलालाबाड़ी, त्रीजे, मुम्बई, वि. सं. 2005, सू. 875, पृ. 208
55. आचारांगसूत्र, सं. मुनिश्री समदर्शाजी, सू. 1.63, पृ. 239
56. भण्वस्म मोक्खमग्गाहिलासिणो ठियगुरूवएस्स। आईए जोग्गमिणं बालगिलास्स  
वा डहारं॥ भिक्षुआगमकोश ( भाग 1 ), सं. आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 126
57. भिक्षुआगम कोश ( भाग 1 ), सं. महाप्रज्ञ, पृ. 295
58. जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश ( भाग 2 ), पृ. 358
59. व्याख्याप्रज्ञप्ति, सं. मधुकर मुनि, 3.18.2, पूर्वोक्त, पृ. 678
60. वही, 3.11.9, पृ. 635
61. अनुत्तरौपपातिकदशांग, मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर  
( राज. ), 3.6, पृ. 27

\*\*\*

## **Recollection (Smṛti) in Jaina Logic: An Instrument of Valid Cognition (Pramāṇa)**

**Dr. Rahul Kumar Singh**

*In all the systems of Indian philosophy, we meet with the time-honored distinction between the valid and invalid knowledge. Generally two words are used to stand for knowledge: Jñāna and pramā. Jñāna means all kinds of knowledge, true or false. But the word pramā is used only in the sense of true or valid knowledge or yathārtha-jñāna (veridical cognition). Similarly, in Jainism, word 'Darśana', apart from one of its connotation as faith (śraddhāna), it also connotes the cognition of the general (sāmānya-bodha) or bare cognition (Ālocana-mātra). It is called 'nirvikalpaka' or 'Ālocanātmaka' by different schools of Indian Philosophy. In present paper, evaluating the Jains contribution to the Indian epistemology, the author somehow differs with the old definition of word pramā and jñāna and has established pramā as knowledge and jñāna as cognition. According to the above novel definition of both the terms, cognition can be real and unreal both but knowledge will always be valid. -The Editor*

Like all the systems of Indian philosophy, Jain philosophy, has also contributed significantly to epistemology. The Jains have described knowledge as the essence of soul. It is one of the chief characteristics of the soul. The knowledge or cognition of an object is twofold: First is indeterminate knowledge or apprehension (*Darśana*) which is unable to grasp the existential generality of the object; latter is called determinate cognition or comprehension (*Jñāna*) which grasps the object with its individual attributes. Apprehension and comprehension are technically termed as '*Nirākāra-upayoga*' and '*Sākāra-upayoga*', respectively. In former the details of the object are not perceived but in latter the details are known.

All the Indian philosophical systems always assert the knowledge as that form of cognition which reveals reality in its true form and leads us to successful activity in the light of it. The result of such a

valid cognition is technically called *Pramā* and the result of such an invalid cognition is technically known as *Apramā*. The methodology or the sources of valid cognition has therefore been called *Pramāṇa* or the instrument by which *pramā* or knowledge is attained.

The term *cognition* stands for Sanskrit term *Jñāna*. Both the terms (*cognition* and *Jñāna*) are epistemologically neutral terms. They do not necessarily stand either for true or valid cognition or for false or invalid cognition. They stand for a 'cognitive mental state' (*Jñāna*) as distinguished from volition or conation and emotion. In cognizing an object, sensation, inference and verbal testimony, are the most fundamental instruments. Therefore, these three are called *Pramāṇa* (instrument or source of true cognition). It is not necessary that the results of these instruments be always true. It may be true (*pramā*), false (*viparyayajñāna*) or doubtful (*saṁśayajñāna*). The defective cognition may be either false or doubtful. Thus, the term cognition is a neutral term irrespective of the distinction between true, false and doubtful cognition. Therefore, the concept of 'means of knowledge' (*pramāṇa*) should be considered in two different senses. In the first sense it is the means of cognition (*jñāna*) and in the second sense it is the means of knowledge (*pramā*). That instrument by which a thing is known rightly is called *pramāṇa*, i.e., valid cognition.

The Jain thinkers use the concept of *Pramāṇa* in two different context—*Epistemological–Logical context* and *Metaphysical–Religious context*. In the former context *Pramāṇa* is primarily understood as determinate true cognition; here *Pramāṇa* is contrasted with *Samāropa* (*saṁśaya, viparyaya, anadhyavasāya*)<sup>1</sup>—something analogous with *avidyā* or *ayathārthānubhava*. In the latter context *Pramāṇa* is primarily understood as complete knowledge or holistic knowledge, where *Pramāṇa* is contrasted with *Naya* (which is understood as partial knowledge or partial view - point). This paper deals only with the Logical context.

There are two types of valid cognition, viz., direct (*pratyakṣa*) and

indirect (*parokṣa*)<sup>2</sup>. Direct valid cognition is of two kinds—empirical (*sāṃvṃvāhārika*) and transcendental (*pāramārthika*)<sup>3</sup>. Again, first is also of two kinds; viz., sense perception (*indriyapratyakṣa*) and mental perception (*anindriyapratyakṣa*)<sup>4</sup>. Both have four gradual stages, viz., sensation (*avagraha*), speculation (*tīha*), judgement (*avāya*) and retention (*dhāraṇā*)<sup>5</sup>. Transcendental is also of three kinds; viz., Clairvoyance (*avadhi*), Telepathy (*manahparyaya*) and Omniscience (*kevalajñāna*). Indirect valid cognition has five varieties<sup>6</sup>, viz., memory or recollection (*smṛti*), recognition (*sañjñā or pratyabhijñāna*), cogitation (*tarka*), inference (*anumāna*) and verbal testimony (*āgama*)<sup>7</sup>.

Whenever we recollect a thing experienced in the past, it is a case of memory. Recollection (memory) is caused by the past experience. When the impressions, left on the mind by the past experience of a thing, are revived by certain conditions, there takes place the phenomenon of memory of that object. In memory, the cognition takes the form ‘that clock’, ‘that man’ and the like. Thus, memory refers to its content by a form of the pronoun ‘that’. This means that the object is not present before the cognizer. It is awakening of past impressions. For example, when we say that ‘that man was very funny’, we had already cognized that man previously, and this knowledge had achieved the stage of retention. In future while thinking about something we recollected in the form ‘that man was of this type’—this type of mental cognition is recollection. “The main characteristic of *smaraṇa* is that it originates in the revival of *saṃskāras* or vestiges of previous knowledge in the soul by its peculiar power (*śaktiviśeṣa*), favorable for the attainment of the desired result. The *Artha* or object which has already been made definite by previous *pramāṇa* may be either explicit or implicit, i.e., may be an external object, or an idea, and is referred to as *Tat*, that.”<sup>8</sup> Following are some definitions of memory given by the Jain logicians:

Ācārya Umāsvāti describes recollection as synonymous to (variety of) *matijñāna* (sensory knowledge)<sup>9</sup>. According to Ācārya Vāddevasūri, “Remembering is the cognition of an object cognized

before, in the form, 'it is that', and is due to the waking up of an impression."<sup>10</sup> Ācārya Māṅikyanandi says, "Memory is that cognition which is caused by the awakening of past impressions, it is of the form of 'that'."<sup>11</sup> Ācārya Hemacandra describes, "Recollection (is a cognition which) has for its condition the stimulation of a memory impression and which refers to its content by a form of the pronoun 'that'.<sup>12</sup> According to Ācārya Yaśovijaya, "Recollection is the cognition generated only by experience, as 'that image of Tīrthāṅkara'."<sup>13</sup>

"Here Ācārya Hemacandra brings out a very instructive point that is the importance of the inseparable conjunction of the *anubhūta* and the *anubhūyamāna* aspects in the object perceived, of which our memory is produced. The *anubhūyamāna* element i.e. the element of the process of being perceived may be supposed as separable from the element of *anubhūta* which is the finished product of perception. In that case, in memory, we miss or do not have before us, the *anubhūyamānaviṣaya* and so our memory seems to have no objective reference (*nirālaṃbana*) and thus fails to be *pramāṇa*; similarly, we would have to deny the validity of *pratyakṣa pramāṇa*, if we separate the *anubhūyamāna* element and confine it to a mere *anubhūtārtha*, which has the effect of making *pratyakṣa* superfluous. Now to vindicate the validity of memory and *pratyakṣa* as *pramāṇas*, Hemacandra emphatically insists on the *anubhūyamāna* element as a necessary accompaniment of the *anubhūtārtha* having its *ālaṃbana* or resting supports the *anubhūtārtha* (*anubhūtārthena sālaṃbanatvopapatteḥ*)."<sup>14</sup> This also highlights the Jain contention that recollection is a cognitive process which is different from perception but dependent upon it.

By above-mentioned definitions (*sūtras*) the Jain logicians articulated various aspects of the recollection (memory). Many of the Jain philosophers describe retention as the condition of recall. Therefore, previous knowledge is the fundamental condition of recollection. Retention is that stage of perception where determinate perception leaves behind such an impression which makes possible the recollection of the object concerned at later occasion. On the analysis



of above-mentioned definitions it seems that the Jain thinkers accept the process analysis of memory which is the final stage of a casual process of determinate perception where the process begins with retaining the impressions of determinate perception, proceeds through the revival of these impressions and ends with the actual remembering of the object concerned. A memory claim of a person may be true or false depending on the process worked correctively or not. In other words, memory is a form of valid cognition acquired through a process of the revival of past impressions. Here, Jains seem to suggest that person is availed of the knowledge of the past through memory. The knowledge of the past does not mean that the knowledge can be compartmentalized as knowledge of the past, present or that of future. Propounding the theory of *Anekāntavāda* Jains maintain that every judgement is relative. When we make any judgement regarding an object it is made from a particular point of view, determined by four factors, viz. substance (*dravya*), space (*kṣetra*), time (*kāla*) and mode (*bhāva*) of the object. Here, the consideration of all the four aspects including temporal factor is essential in making any judgement.

As the recollection is a variety of indirect cognition, it is indirect in two senses—regarding its origination and its validity. In all the above mentioned definitions recollection is stated to be based upon retention (*dhāraṇā*) that is one of the stage of perception. For origination, therefore, recollection is a form of indirect cognition. As regards validity, it depends upon particular perception. A valid original perception is necessary for valid memory cognition. Thus, it is indirect in the sense of validity also.

No other school excepts Jainism accept recollection, recognition and cogitation as the means of valid cognition. Recollection gives the knowledge of the past state of reality. Recollection has been rejected by all traditions on the ground that it cognizes what is known before, and also because it arises without any object. The Jains held that, though recollection is *grhītagrāhī*, still it leads one to a fruitful action (which is one of the conditions of valid cognition, according to the Jains), and so it has to be regarded as the instrument

of valid cognition. Because of this difference of opinion, Jain logicians were engaged in very rigorous arguments with those of other schools like Nyāya, Buddhism, and Pūrvamīmāṃsā; epistemologically very illuminating.

The other philosophical schools, not in favor of the epistemological status of recollection (Prabhākara Mīmāṃsā, etc.) rejected recollection as a valid instrument of true cognition (*pramāṇa*). They propound that memory is not an instrument of valid cognition because it depends for its genesis on perception which is another means of knowledge (valid cognition). The Jains refute this objection by saying that if the validity of the recollection is denied, the inference also will have to be excluded from *pramāṇas* because inference also depends on the knowledge of necessary concomitance, perception of *hetu* etc., and therefore on this ground even inference will cease to be *pramāṇa*. Ācārya Hemacandra said in this regard, "Moreover, if recollection be convicted of invalidity, one must offer oblation of water to inference (that is to say, one must be prepared to repudiate the validity of inference), since there is no possibility of inference being realized unless recollection has already taken note of the necessary concomitance. It is universally accepted by all logicians that inference is conditioned by apprehension of the probans and recollection of its necessary concomitance (with the probandum). It is established, therefore, that recollection is to be accepted as an organ of knowledge, otherwise the validity of inference would become unaccountable."<sup>15</sup> In the commentary of 4<sup>th</sup> *sūtra* of 3<sup>rd</sup> *Pāda* of *Pramāṇa-Naya-Tattvālokāṅkārā*, the commentator established that recollection is as much a source of valid cognition as inference. Further he said, "The Jain philosophers go on showing how the validity of inference would be impossible without the validity of recollection. They point out that inference is dependent on a recollection of the 'invariable relationship between the mark and the proven.' If the recollection which thus revives the idea of 'invariable relationship' be invalid (*Apramā*) then the 'invariable relationship' itself becomes incompetent for the purpose of the

inference, just as the 'invariable relationship' which is 'doubtful'. You cannot say that recollection need not be a *pramāṇa* in such cases its business being simply to re-collect the operation or the result of the evidence that established the pervasion. For, a faithful recollection of such invariable relationship between the mark and the proven is impossible unless recollection be a form of valid knowledge."<sup>16</sup>

The *Naiyāyikas* argue against recollection and maintain that the object being absent, how can recollection originate and produce knowledge of the object, and how can it be called an instrument of valid cognition? *Naiyāyikas* also argue that recollection does not have correspondence with the knowledge, therefore, it may not be called an instrument of valid cognition. According to the Jain thinkers knowledge is *svaparabhāsī*, i.e. reveals itself as well as the object. While recollection is self-revealing, one is conscious about one's memory experience, it reveals the object also which has been experienced in the past. The Jains do not accept the view that knowledge arises from the object<sup>17</sup>. So, that cannot be the reason of denying validity to *recollection*. The Jains go further and say that it is not the correspondence with the object, but revelation of the self and object and pointing to a successful activity that is the criterion of validity of cognition, which is fulfilled by recollection. The Jain thinkers bring out another point that one should not wrongly think that the condition of lack of discrepancy in other form of cognition consists in their being generated by an object. Ācārya Hemacandra says, "There is no dispute regarding the validity of the mystic's intuition of the past and unborn objects, though it is not generated by the later (the object)."<sup>18</sup> These arguments by the Jains rule out both the objections of the *Naiyāyikas*. As H.M. Bhattacharya writes, 'It is interesting to note in this connection that some of the later *Naiyāyikas* (Jayantabhaṭṭa and Viśvanātha) have the good sense to acknowledge the validity of *smaraṇa* (memory). Jayantabhaṭṭa, for instance, has defended memory as a *pramāṇa* or valid cognition on the ground that it is also a case of *yathārthāvabodha*, if the *artha*

which memory looks back to is uncontradicted, no matter whether the *artha* is physically represented.<sup>19</sup> This reservation shows taking the cognizance of the Jaina's attitude to recollection as an instrument of valid cognition, by the other schools of Indian thought.

Thus, in the light of above discussion, it may be concluded that the epistemological status of recollection depends on the way of defining the *pramāṇa*. If *pramāṇa* is defined as a presentational cognition, then all forms of representational cognitions including recollection, are eliminated from being *pramāṇa*. If *pramāṇa* is defined as uncontradicted cognition, without explicitly mentioning whether it should be presentational or not, then the form of representational cognition such as recollection can be accommodated as *pramāṇa*. The Jain logicians characterize *pramāṇa* including the characteristic novelty (*anadhigatatva* or *apūrvārtha*)<sup>20</sup> and they also held that recollection is a form of valid cognition. According to them, if *samāropa* (*saṃśaya* or doubt, *viparyaya* or false, *anadhyavasāya* or illusion) comes in the object previously cognized, that object treated as an object not cognized before (*apūrvārtha*)<sup>21</sup>. The Jains further say, it is true that the object of the recollection is the object previously cognized. But what is special about recollection is that memory cognizes the oneness, 'uncognized by any other means,' of the object of the past and the present which is not done by the previous cognition. Memory is not a mere repetition of previous cognition but it is a revival of that cognition as 'the past cognition'. The 'pastness' that is cognized in recollection is that factor which is never perceived in previous experience. The Jain logicians reconcile the epistemic condition of recollection with the characteristic of novelty. The Jain logicians accept not only recollection, but recognition and cogitation as the instrument of valid cognition which enables us to obtain true cognition about the past as well as future aspects of reality. And all the three are independent *pramāṇas* which play their distinctive yet interrelated roles in the accomplishment of inferential knowledge.

**References:**

1. (A). Ācārya Vālidevasūri says—  
I. *Samāropa* or superimposition consists in determining a matter to be what it is not.—‘*Pramāṇa-Naya-Tattvālokālaṅkāra*’, I/7, trans. Ā. S. Bhattacharya, Jain Sahitya Vikasmandal Bombay, 1967, P.37  
II. That (knowledge) is essentially valid (or certain) as it is opposed to *Samāropa* or supreme position, or, as it is *pramāṇa*.—*Ibid*, I/6, P.29 (B). *Tanniścayātmakaṃ samāropavirūddhatvādanumānavat*.—*Parīkṣāmukha*, Ācārya Māṇikyanandi, I/3, editor- Dr.Yogeshchandra Jain, Pandit Todaramal Smarak Trust, Jaipur, 3rd edition, 2009, p.12
2. *Tad dvibhedam pratyakṣam caparokṣam ca*.  
‘*Pramāṇa-Naya-Tattvālokālaṅkāra*’.—*op. cit.*, II/1, P.89
3. *Tad dviprākaraṃ sāmvyavahārikaṃ pārmāthikaṃ ca*.—*Ibid*, II/4, P.98
4. *Tatrādyam dvividhamindriyanibandhanam-anindriyanibandhanam ca*. —*Ibid*, II/5, P.98
5. *Etad dvitīyamavagrahehāvāyadhāraṇā-bhedādekaśascaturvikalpakam*.—*Ibid*, II/6, P.99
6. (A) *Aspaṣṭam parokṣam. Smaraṇapratyabhijñāna-tarkānumānāgamabhedatpañcaprakāraṅgam*.— *op. cit.*, III/1-2, P.165  
(B) *Parokṣamitarat. Pratyakṣādīnimittam smṛtipratyabhijñāna-tarkānumānāgambhedam*. —*Parīkṣāmukha*—*Ibid*, III/1-2
7. It is only a general outline of varieties of *pramāṇas*. For detailed information, from beginning to Contemporary thinkers, please see the book ‘*Recollection, Recognition and Reasoning*’ by Prof. S.S. Antarkar, Prof. P.P. Gokhale. Prof. Meenal Katarnikar published by Sri Satguru Publication, Indian Book Centre, Delhi, 2011.
8. Bhattacharya, H.M., *Jain Logic and Epistemology*, K P Bagachi & Company, Culcutta, 1994, p.194

9. *Tattvārthasūtra*, Vācaka Umāsvāti, I/13, editor- Dalsukh Malvania, L. D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1974, p.3
10. *Tatra saṃsakāraprabodhasaṃbhūtamānubhūtārthaviṣayaṃ tadityākāraṃ saṃvedanaṃ smaraṇam.*—‘*Pramāṇa-Naya-Tattvālokālaṅkāra*’—*op. cit.*, III/3, p.165
11. *Saṃsakārod bodhanibandhanā tadityākārā smṛtiḥ.* *Sadevadatto yathā.* —*Parīkṣāmukha*—*op. cit.*, III/3-4
12. *Vāsanodbodhahetukā tadityākārā smṛtiḥ.*  
—*Pramāṇa-Mīmāṃsā*, Ācārya Hemacandra, I/2/3 trans. Satkari Mukharjee, Bharatī Mahavidyalaya, Calcutta. 1946, p.86
13. *Anubhavamātrajanya jñānaṃ smaraṇaṃ yathā tat tirthaṅkarabimbam.* —*Jaina Tarkabhāṣā*, 10.
14. Bhattacharya, H.M. *op. cit.*, p.194-195
15. *Pramāṇa-Mīmāṃsā*, Ācārya Hemacandra, p.88
16. *Pramāṇa-Naya-Tattvālokālaṅkāra*, *op. cit.*, p.170
17. According to Naiyāyikas correspondence with the object is the essential condition of validity of cognition.
18. *Pramāṇa-Mīmāṃsā*, Ācārya Hemacandra, p.88
19. Bhattacharya, H.M., *op. cit.*, p.195
20. *Svāpūrvārthavyavasāyātma jñānaṃ pramāṇam.*  
—*Parīkṣāmukha*, *op. cit.*, I/1
21. *Dṛṣṭoapi samāropāttāḍṛk.*—*ibid*, I/5

## ***Self Control: The Vital Aspect of Ascetic Life***

***Samani Rohit Prajna***

*Self-control is the prime aspect of an ascetic life in Jainism. Mithyātva, avirati, pramāda, kaṣāya and yoga are the five causes of Bondage. Out of these five, Yoga or activities performed by mind, body and speech play a vital role in bondage of a soul. Hence to be freed from bondage, to control the mental, vocal and physical activities is very important. In Jaina terminology, the means of controlling mental, vocal and physical activities is called Gupti (self-control or restraints). As a farmer protects a field, a ditch or a rampart protects a city, so the Guptis protect a monk from committing sins. The author of the article has collected all prime references from the Jaina texts and has tried to conclude that three kinds of self-control is the closer means to achieve everlasting happiness i.e. emancipation. -Editor.*

Strange is the fact that the entity which experiences pleasure and bliss stays entangled in the whirlpool of misery. When all crave for happiness and want to keep away from misery, why then the problem of misery arises?

Jainism propounds that inflow of *karma* (influx) is the primary cause of our sorrow and sufferings.<sup>1</sup> Through soul's mental, vocal and bodily activities the karmic matter is attracted towards the soul, flows into it and get bound. So to attain salvation, the ultimate goal, a soul must shake off all karmic matter which veils the pure nature of soul. But question is raised how the soul can be freed from the snares of *karma*. Jainism solves this problem through the practice of *gupti* (restraints or self-control).

The word *gupti* is derived from the root "gup" by adding the suffix "ktin". The term *gupti* refers multiple meanings like preserving, protection, concealing, hiding, stoppage,<sup>2</sup> etc.

In Jaina literature the word *gupti* is used in the sense of stoppage or control. Jainism is an ascetic religion. It states that only an ascetic can follow the strict code of conduct to attain unique state of salvation because only he is able to give up all worldly ties. This paper tries to explain the concept of *gupti* in respect of an ascetic.

### ***Gupti in Jaina Scriptures***

Although there is no clear definition of *gupti* in *Ācārāṅga*, the word *gupti* is used at many places holding the meaning to control the mental, vocal and physical activities. For example, the word 'Āyagutte'<sup>3</sup> refers that monk is one who has controlled his mind speech and body. In the same text a monk is suggested to lead his life by conquering and guarding three activities.<sup>4</sup> Defining the 'gupti' *Uttarādhyayana Sūtra* says, "guptis are for the prevention of everything sinful<sup>5</sup> - "gutti niyuttaṇe vuttā, asubhatthesu savvaso." The same definition is given by Śivārya in *Bhagavatī Ārādhana*<sup>6</sup> and by Ācārya Vaṭṭakera in *Mulācāra*.<sup>7</sup>

In *Tattvārtha-sūtra*, Umāsvāti says, *gupti* is enlightened control of the threefold activities of body, speech, and mind.<sup>8</sup> Here "Enlightened" means in the manner prescribed by scriptures. In *Tattvārtha Rājavārtika* Akalaṅka says - *gupti* means to control all the activities for the certain time period.<sup>9</sup>

According to Pūjyapāda,<sup>10</sup> 'that by which the soul is protected from the causes of transmigration is control or *gupti*, "yataḥ saṁsāra kāraṇādātmano gopanaṁ sā gupti".

From all above-mentioned definitions, we can conclude that threefold activity is influx. It is the cause of all miseries and pain while control over threefold activity is the cause of eternal happiness.

In Jaina text the term *gupti* is explained from two viewpoints viz Transcendental and Conventional (*niścaya-naya* and *vyavahāra-naya*).



### *Gupti - Niścaya and Vyavahāra-naya*

From the conventional point of view all activities either good or bad are undesirable, as every kind of activity causes inflūx and bondage. So complete stoppage of activities is necessary to be freed from the circle of birth and death, but it is not possible to have that state directly. To obtain a position of complete control, first of all inauspicious activities of mind, body and speech should be controlled. So far as the conventional viewpoint is concerned, *gupti* deals with the meaning to control all inauspicious activities.

According to *niścaya-naya* turning away from attachment etc. is control of mind,<sup>11</sup> setting one's face against falsehood or observing silence is control of speech and refraining from bodily actions, non-attachment to body and refraining from violence signifies the control of body.<sup>12</sup>

In the conformity with *vyavahāra-naya*, the renunciation of impure psychological states is the restraint of mind, the renouncement of gossip concerning women, state, theft, and food or the renouncement of telling a lie is the restraint of speech and such as binding, piercing and beating living beings is the restraint of body.<sup>13</sup> Thus from the conventional point of view an ascetic should leave all inauspicious activities. Jaina text states that non-virtuous activity is the cause of demerits (*pāpa*).<sup>14</sup> Problem is that which activities are good (auspicious) and which are bad (inauspicious)? Solving this problem Jaina texts maintain that activity which is performed with good intentions is good. So intentions and thoughts are the subject of mind. The main cause of the bondage of auspicious and inauspicious karmic matter with soul is mental activity. Vocal and bodily activities are regarded as the cause of bondage in so far they arise from mental activities. It is said that a person desiring to be a *Yogi* without controlling his mind is like a lame person who fancies to walk long distance and becomes a laughing stock.<sup>15</sup> If man controls the mind, all evils can be stopped but it is very difficult to control mind. We can understand the nature of mind through some aphorism or verses described in Jaina texts.

### ***Nature of mind***

The Jaina canonical text *Ācārāṅga-sūtra* says 'the mind of man is fickle. Man wants to fulfill all his desires, which is as impossible as filling a sieve with water.<sup>16</sup> It is difficult to remove evil thoughts from the mind. Throwing light on the working of human mind in *Uttarādhyayana-sūtra*, it is said that the mind is that fierce, unruly and dreadful horse which runs hither and thither in all directions.<sup>17</sup> Just as monkey cannot remain still even for single moment, so also the mind cannot remain free from evil thoughts for a single moment.<sup>18</sup> In *Gītā*, Arjuna says to lord Kṛṣṇa, the human mind is wavering by nature. It is very strong, powerful and energetic. To subdue the mind is hard nut to crack, an extremely difficult task like putting the wind under check.<sup>19</sup>

Hence it is fact that mind obstructs the achievement of ultimate goal- salvation but it should be considered that only fickleness is not the nature of mind. Mind has two faces, one is activated or unstable and other is stable. As the wavering mind obstructs liberation, in the same way stable or concentrated mind leads a man to the salvation.

### ***Mind: Cause of Bondage and Liberation***

Bondage and liberation both are opposite to each other but their root cause is one and that is mind. *Ācārāṅga* states "aūega citte khalu ayaṃ purise"<sup>20</sup> means mind has various forms. Mind has that form which is full of attachment and aversion and cause of bondage. On the other hand the same mind has also that form which has purity of equanimity and causes liberation. The same text also states, 'What is the cause of influx is the cause of efflux.'<sup>21</sup>

Here influx means inflow of *karma* and efflux means shading of *karma*. So cause of influx means cause of karmic bondage and cause of efflux means cause of karmic dissociation. Thus that, which is the cause of bondage, is also the cause of liberation. One who dedicates ones mind to worldly allurements and become detached from the passions attains liberation.<sup>22</sup> Thus, mental self-control is

the most powerful penance. In the twinkling of an eye this mind pushes one to the seventh rung of hell and elevates one to man's highest destination i.e. salvation. Defining an ascetic it is said that 'an ascetic is one who has complete mastery over his mind'.<sup>23</sup> For mastery over mind, first necessity is the purity of thoughts. People who desire *mokṣa* without a pure mind are like ignorant fools trying to swim across the great ocean with bare hands.<sup>24</sup> In Jain text we also find the types of *mano-guṭṭi* while discussing the *mano-guṭṭi* it is relevant to know its types also.

### ***Types of mano guṭṭi***

The Jains hold that all our mental activities can be classified into four kinds: (i) true, (ii) untrue, (iii) true and untrue, and (iv) neither true nor untrue.<sup>25</sup>

A true activity of mind corresponds to its object. And activity which does not correspond to its object is untrue. An activity is said to be true and untrue if it is partly true and partly false. Our desires, purposes, inclinations etc. are of the fourth kind. Such activities are neither true nor untrue since they have no corresponding object. Classification of *guṭṭi* is based on type of activities. So *guṭṭi* is also fourfold:

- i) True,
- ii) Untrue
- iii) True and untrue
- iv) Mixture of what is not true and what is not untrue.

Suggesting a monk in *Uttarādhyayana* it is said, "a monk should prevent his mind from desire for the misfortune of somebody else (*samārambha*), from thoughts on acts which cause misery to living beings (*samārambha*), and from thoughts in acts which cause their distraction (*ārambha*)".<sup>26</sup>

The famous text *Yoga Śāstra* classifies *mano-guṭṭi* in different way, based on states or levels of controlling mind. According to Ācārya Hemacandra there are three types of *mano-guṭṭi* viz. (i) *nasatkalpanā viyogī*, (ii) *samatābhāvīnī* and (iii) *ātmaramatā*.<sup>27</sup>

**i) Asat kalpanā viyogī**

It means that one should not give himself up to excessive grief and the like at the demise of any one dear to him or at the loss of anything. One should reflect within himself that all the pleasures of life are only temporal. They come and go like the fleeting clouds so there is nothing permanent to be gained thereof for the well being of the soul which must strive and struggle till the highest good is realized.

**2) Samatābhāvinī**

It means continuous thinking along certain time that will bring on the equanimity of mind. He must try to realize that for monk love and hate, pain and pleasure have no value for both are but chains, one of gold and the other of ore which subject the soul to go round and round the wheel of births and deaths. Moreover, unless the equanimity of mind is attained, a soul cannot expect to have a right vision into the metaphysics of ideas and ideals without which veil of *mithyātva* cannot be removed.<sup>28</sup>

**3) Ātmaramatā**

It means 'introspection' or 'self-reflection'. By this the ascetic draws in the power of his mind from the extra mental world and concentrates the same upon the soul to study the different phases it passes through. Thus it gradually creates apathy to the things of temporal character by a comparative arrest of the influx and enhances the ardent desire for a speedy deliverance from the turmoil of the life of servitude.

In order to fortify the practice of the great vow of nonviolence a wise person should chase five *bhāvanās*. Among these five *bhāvanās* one is control of mind (*mano-gupti*).<sup>29</sup> Ācārya Mahāprajña also gives more importance to *mano-gupti*. Where defining the Yoga, Patañjali says, Yoga means to stop mental modifications;<sup>30</sup> Ācārya Mahāprajña uses the same definition in the context of *gupti*. According to him, to control the mental activity is *gupti*.<sup>31</sup> Control of mind means to check the violent thoughts from sullyng the mind. It is the mind where the seed of an action is sown, it is very necessary to keep it clean in

order to be able to practice *ahimsā*.<sup>32</sup> While explaining necessity of mental control it is more important to explain the ways to control it.

### **Ways to Control Mind**

In *Uttarādhyayana Sūtra* the title of first chapter is “Discipline” (Vinaya). In this chapter through various ways discipline of mind, speech and body is described. Here some ways through verses are being explained for the practice of *mano-gupti*.

1. “*Aṇusāsio no kuppejjā*”<sup>33</sup> means discriminate disciple should not be angry by strict discipline.
2. “*Āhacca candāliyam kaṭṭu, na niṇhaviṇṇa kayāi vi*”<sup>34</sup> means if disciple had done any mean act due to excitement of passions, he must not hide it from preceptor. By doing this he can purify his mind.
3. “*Kohaṃ asaccaṃkuvvejjā dhārejjā piyamappiyaṃ*”<sup>35</sup> means an ascetic should make his anger ineffective and should bear preachers tender and harsh discipline thinking beneficial for himself.

4. *Varaṃ me appā danto, sañjamaṇa taveṇa ya, /  
māhaṃ parehi dammanto, bandhaṇehi vahehi ya*//<sup>36</sup>

means the disciple should think that it would be better if I overcome my egotistic self by restrains and penances other wise others will subdue me by punishment and captivation; it would be not good. It is the maxim which moves an ascetic to control the mind.

Through applying the meaning of above said verses in the practical life, one can control over his mind. Thus, we can say that Right knowledge is the way of controlling the mind because where the mind takes its root in ignorance and vanishes in the light of knowledge. In the views of Ācārya Tulsī here knowledge means not to know everything. Here it means to know the self-experience or the existence of self. Experience of the self existence is the cause of detachment towards self. Thus the knowledge of self and detachment of worldly pleasure becomes internal means to control the mind.<sup>37</sup>

Faith towards the goal is also internal cause which can control the mind. Mental activity can be stopped through giving up all desires and imagination. Along with these, *kāya-gupti* is also the powerful means to control the mind because fickleness of the body increases the fickleness of mind. Giving up desires, relaxation of body and meditation. These three means needs to be practiced to achieve positive results.

*Results of mano gupti :*

*Uttarādhyayana Sūtra* says:

*ege jie jiyā pañca, pañca jia jiyā dasa /  
dasahā u jñittāṇaṃ, savvasattū jñāmaṇṇ//”*<sup>38</sup>

It means only by subduing the single mind all the five senses are automatically subdued and when the five senses are subdued the ten (mind + five senses + four passions) are conquered. One who conquers all these ten, in a way wins over almost all the enemies of soul.

When Gautama asks it to Lord Mahāvīra - Lord! What does the soul obtain by *mano-gupti*? Lord says, by *mano-gupti* he concentrates his thoughts there by he truly practices restraint.<sup>39</sup>

When the mind becomes stable like the water of a clear pond, then the reflection of soul can be seen in it.<sup>40</sup> Thus, when the mind stops functioning, the self shines in consciousness as the only reality. As mental activity, vocal activity is also detrimental for having the pure state. So with *mano-gupti*, *vacana-gupti* is also necessary for spiritual practice.

### ***Vacana-gupti in Jainism***

Indeed, speech is the index of man's personality. His conduct is also known by his speech so an ascetic is advised to speak after deep pondering. We find the concept of *vacana-gupti* in Jainism while discussing the conduct of an ascetic. If we see from the transcendental point of view then *vacana-gupti* means complete control over speech but this state cannot be achieved easily. To reach at this stage initially an ascetic should control over unnecessary talks. From different standpoints Jainism defines *vacana-gupti* in various ways. In Jaina

texts we find various definitions of *vacana-gupti*. According to *Uttarādhyayana Sūtra* prevention of mind from misfortune of somebody else, from thoughts on acts which cause misery to living beings and from thoughts on acts which cause their destruction is known as *vacana-gupti*.<sup>41</sup>

In *Niyamasāra* we get two definition regarding *vacana-gupti*.

1. Abstention from speaking lie or complete silence is known as *vacana-gupti*<sup>42</sup>

2. For an ascetic avoidance of talks about women, politics, theft food, etc. and refraining from telling a lie is known as *vacana-gupti*<sup>43</sup>

In *Yoga Śāstra* Ācārya Hemacandra says : to observe complete silence, i.e. not to speak a word is called *vacana-gupti*. One should not communicate even with gestures.<sup>44</sup>

Control of speech can be accomplished in two ways:

- 1) By taking a vow of silence for a certain period during which he should never open his lips or
- 2) By regulating his tongue only to move on imperative occasions.<sup>45</sup>

On the basis of types of speech activity, control of speech is also divided into four -

*Saccā taheva mosā ya. saccāmosā taheva ya/  
cautthī asaccamosā, vaigutti cauvvihā//*<sup>46</sup>

- i) truth (satyā)
- ii) falsehood (mṛṣā)
- iii) truth untruth mixed (satyā-mṛṣā)
- iv) neither truth nor untruth - only behavioral (asatyā-mṛṣā)

In Jain texts we find some verses and aphorisms which can help to practice *vacana-gupti*. They are:

- 1) "Nāpuṭṭho vāgare kiṃci"<sup>47</sup>- Disciple should not speak unasked.
- 2) "Musam pariḥāre bhikkhū naye ohāriṃiṃ ye"<sup>48</sup> - Mendicant should forbear falsehood, should not speak definite language.
- 3) "na lavejja puṭṭho sāvajje"<sup>49</sup> - If asked a mendicant should not speak lie or sinful.

- 4) "Appanaṭṭhā paraṭṭhā vā, kohā vā jai vā bhayā/  
hiṃsgaṇi na musaṇi būyā, no vi annaṇi vavāvae//"<sup>50</sup>
- 5) "Appattiyaṇi jeṇa siyā Āsukuppejja vā paro/  
savvaso taṇi na bhāsejja bhāsaṇi ahiyagāmiṇiṇi//"<sup>51</sup>

An ascetic is prohibited to use such damaging language that inspires aversion and provokes immediate anger.

6) "na ya vuggahiyaṇi kahaṇi kahejja"<sup>52</sup> Never use provocative language.

When it is asked what does the soul obtain by restraint of speech? Lord says by restraint of speech the soul obtains the state of immutability (thoughtlessness), such soul becoming silent by words enables himself to the meditation which is the cause of spiritual yoga. Here thoughtlessness means to win over anger pride, deceit, sexual desire etc.<sup>53</sup>

*Daśavaikālika-niryukti*<sup>54</sup> states a person not expert in the usage of language and its different types, it remain silent, can't be considered as upholder of *vacana-gupti*, while one who is expert in the usage of language and its different types though speak the whole day long still is considered as upholder of *vacana-gupti*.

Hence a monk, following *vacana-gupti* should refrain from using such language that approves of sinful activities, conveys certainty and is offending to other beings. So also he should not utter under influence of anger greed fear and mockery.<sup>55</sup>

### **Kāya-gupti:**

One meaning of *gupti* is to protect. So *kāya-gupti* means protection of the body. For the protection of body man does every thing. He earns the money, eat the food, enjoys the material pleasures etc. And by this sort of protection he binds his soul through attachment, aversion, passions etc. He gets the bitter consequences of bound *karmas*, coming again and again in this world.

Scriptures also say "Body is the first important mean of spiritual practice. Religious activities can be performed only through the medium of body. In *Uttarādhyayana Sūtra* there is a verse,



*sariramāhu nāva tti, jīvo vuccai nāvio/  
saṃsāro aṇṇavo vutto, jaṃ taranti mahesiṇo//<sup>56</sup>*

It denotes, body is boat, soul is sailor and the world is ocean which is crossed by great sages. Body is the vehicle of spiritual practice.<sup>57</sup> So protection of body is necessary to fulfill the ultimate goal and real protection of body is 'to control it'. Unnecessary movement of body is the sign of nonrestraint and it causes the violence so a saint should control his bodily movement.

### ***Kāya-gupti in Jainism***

*Uttarādhyayan Sūtra* defines *kāya-gupti* in this manner: In standing sitting, lying down, jumping, going and in the use of his organs a monk should prevent his body from intimating obnoxious desires from doing acts which cause misery to living being or which cause their destruction.<sup>58</sup> *Vacana-gupti* and *kāya-gupti* are also defined by two ways in *Niyamasāra*. According to it complete control over physical activity or control on violent activity is known as *kāya-gupti*. There are fourteen states of spiritual upliftment. Total control of body is possible in the state of omniscience with total cessation of activities. To arrive at this state first of all an ascetic should control over violent activities.

Ācārya Hemacandra defines *kāya-gupti* with two types of definition:

(i) one who remain unperturbed during *kāyotsarga* (meditation) even when assailed by the *upsargas* (harassment to test the control over body) shows complete detachment is called *kāya-gupti*.

(ii) To control and limit the physical activities i.e. sleeping, sitting, walking, using things, etc. is called *kāya-gupti*<sup>59</sup>.

We find some inspiring illustrations controlling body in some basic texts. For example *Sūtrakṛtāṅga-sūtra* says, "just as a tortoise draws its limbs into its own shell, a wise man should withdraws his senses from evil by spiritual exertion".<sup>60</sup> The tortoise knows how to hide its organs under the security cover of its back. That is why it is able to protect itself against the onslaught of Jackals. Monk should also know as to how he can protect himself through spirituality.

Like mind and speech discipline, in *Uttarādhyayana* we find some way for controlling the body also. They are:

i) *Na pakkhao na purao, neva kiccāna piṭṭhao/  
na junje ūruṇā ūruṇ, sayañe no padissune.*//<sup>61</sup>

A monk should not sit by the side of the preceptor nor before him, nor behind him. He should not touch the preceptor's thigh with his own etc.

ii) *Neva palhatthiyaṃ kujjā, pakkhapiṇḍaṃ va samjae/  
pāe pasāriye vāvi, na chitṭhe guruṇantiye.*//<sup>62</sup>

A disciplined monk should not sit on his hams nor cross his arms, nor stretch out his legs, nor stand lose to his teacher.

iii) *Āsaṇe uvachitṭhejjā, aṇucce akue thire/  
appuṭṭhāi niruṭṭhāi, nisīejj'a'ppakukkue*//<sup>63</sup>

Monk should occupy a law, firm seat, which does not rock, seldom rising and never without a cause he should sit motionless.

iv) *Hattham pāyaṃ ca kāyaṃ ca paṇihāya jīimdiye/  
allīṇagutto nisīe sagāse guruṇo munī*//<sup>64</sup>

A disciplined ascetic should sit neither very near nor too far from the Guru but at a comfortable distance after properly composing and disciplining his body and limbs.

Both Lord Mahāvīra<sup>65</sup> and Lord Buddha<sup>66</sup> say in the same language, 'A true monk is one whose limbs, speech and senses are under his control, who is forever immersed in the contemplation of the self and who understands the true spirit of the scripture. Suggesting a monk it is said:

*"Jattheva pāse kai duppetta, kāyeṇa vāyā adu mānaseṇaṃ/  
tattheva dhīro paḍisāharejjā, āinnao khippamivakkhaliṇaṃ*//<sup>67</sup>

Whenever a wise man notices himself deviating from the path of righteousness in thought, word or deed, he should immediately withdraw himself from the misdeed like as horse controlled by lightened rains. Explaining the result of *kāya-guṭṭi* it is said, by discipline of body ascetic obtains development of conduct which causes him to conduct himself according to the regulation there by

he destroys the four remnants of *karma* (*aghātī karma*) which even *kevalin* possesses. After that he obtains perfection, deliverance and final beatitudes and puts an end to all misery.

Thus control of word and deed is also as necessary as control of mind. Ascetic is one who controls all types of activity<sup>68</sup>. By controlling the activities monk obtains stability like that of the king of mountain and, where by he destroys all *karmas* and obtain an ultimate goal.<sup>69</sup> Lord says, the soul should always be protected by properly disciplining the senses and mind. An unprotected soul is caught in the cycles of life and death and the protected soul is liberated from all sorrows. So by controlling all types of activity we should protect our soul. Showing the power of three kinds of self-control it is said, the amount of *karmas* destructed by an ignorant in lakhs and crores of years can take place with a single breath of a person, following three kinds of self-control.<sup>70</sup>

Thus to live a sacred life, purity of mind, speech and body is required. Where in Jainism there is concept of *gupti* for the purity of mind, speech, body, in *Gītā* we find the austerity of body, austerity of speech and austerity of mind. According to it the austerity of the body consists in worship of the supreme lord, the spiritual masters and superiors like the father and mother. Cleanliness simplicity, celibacy and nonviolence are austerities of the body.<sup>71</sup> Speaking truthfully and beneficially and avoiding speech that offends is the austerity of speech<sup>72</sup> and it can be compared with *vacana-gupti*. Serenity, simplicity, gravity, self-control and purity of thought are regarded as the austerities of mind.<sup>73</sup>

Therefore austerity of mind is also not other than *mano-gupti*.

Concluding this paper it can be said that attainment of destination is possible only through three kinds of self-control because without ceasing activities, inflow of *karma* particles cannot be stopped. In other words soul cannot be freed or uncovered without obtaining three kinds of *gupti*. Three kinds of self-control is the closer means

achieve everlasting happiness. So to have an eternal peace a monk must follow three kinds of *gupti*.

**References:**

1. *Ācārāṅga Bhāṣyam*, ed. by Ācārya Mahāprajña, with text, Sanskrit commentary, Hindi translation etc. Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun, 1994, 1.1.6, p. 26.
2. *The Practical Sanskrit-English Dictionary*, ed. by Vaman Shivram Apte, Motilal Banarasidas Publishers, 4<sup>th</sup> Revised and enlarged edition, Delhi, 1995, (Reprint Delhi-1975, 78, 85, 89, 92, 95, 98), p. 416
3. *Āyāro*, ed by Muni Nathmal, as found in *Aṅgasuttāṇi-I*, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 1974, 3.56
4. “*allīā agutto parivvaye*”, *Ācārāṅga Bhāṣyam*, 3.61.
5. *Uttarajjhayaṇāṇi*, ed by Yuvācārya Mahāprajña, with text, Sanskrit rendering, Hindi translation etc., [1<sup>st</sup> edn. 1967, Calcutta] 2<sup>nd</sup> revised edn., Vol. II, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 1992-93, 24.26.
6. *Bhagavati Ārādhana*, Ācārya Śivārya, Jivaraj Jain Granthmala Publication, Jain Sanskriti Sanrakshaka Sangha, Sholapur, 2004, p. 37.
7. *Mulācāra* of Vaṭṭkera, with *Ācāravṛtti* of Vasunandi Siddhānta Cakravartī, ed. by Phool Chand Jain and Munni Jain, Bharat Varshiya Anekant Vidvad Parishad, Varanasi, 1996, 5, p. 226
8. *Tattvārtha-sūtra* of Umāsvāti, (*That Which Is*) tr. by Nathmal Tatia, ed by Kerry Brown and Seema Sharma, Harper Collins Publishers, America, 1994, 9.4, p. 220.
9. “*Parimita kalvisayohi sarvayogaṇigraho gupti*”, *Tattvārtha-Rājavārtika* of Akalaṅka, edited and translated by Mahendra Kumar Jain, Bharatiya Jnanpitha, Murtidevi Jain Granthmala Sanskrit, Series No. 20, Part-II, 1990, 9.5, p. 594.
10. *Sarvārthasiddhi* of Pūjyapāda, tr. by S.A. Jain in the name of Reality, Virasasan Sangha, Calcutta, 1960, 9.2, p. 241.

11. *Mūlācāra* of Vaṭṭkera, ed by Phoolchand Jain and Munni Jain, with *Ācāravṛtti* of Vasunandi Siddhānta Chakravarti, Bharat Varshiya Anekant Vidvad Parishad, Varanasi; 1996, 5.134, p. 226.
12. *Mūlācāra* of Vaṭṭkera - 5.135, 136.
13. *Niyamasāra* of Kundakunda with *Tātparyavṛtti* and Sanskrit *ṭīkā*, by Padmaprabha Maladhārīdeva, Shri Sat Sahitya Publishers, Calcutta, Todermal Sarvodaya Trust, Jaipur, 2002, verse 66-68, *Tattvārtha-sūtra* of Umāsvāti, 1985, 6.3, p.68.
14. *Reality*- English translation of *Sarvārthasiddhi*, 6.3.
15. *aniruddhamanaskaḥ san yogaśraddhām dadhāti yaḥ/ padabhyām jigmiṣugrāmaṃ sa paṅguriva hasyate//* *Yoga Śāstra* of Hemcandrācārya with svopjña vivaraṇa, 1<sup>st</sup> part, Jain Dharma Prasaraka Sabha, Bhavnagar, 1926, p. 4.37.
16. *Āyāro*, ed by Yuvācārya Mahāprajña, 3.42.
17. *Uttarajjhayaṇāṇī* -2, 24.26
18. *Bhakta Parijñā*, Sri Causaran aur Paccarakāna, Jaindharma Prasarak Sabha, Bhavnagar, (*āvṛtti*-2G) 1980.
19. *Bhagavat Gītā- As It Is*, with original Sanskrit text, translation etc., Collier Books New York, 1972, Collier Macmillan Ltd, Landon, 6.35, p. 343.
20. *Āyāro* - 3.42
21. *je āsavā te parissavā, Āyāro* - 4.12
22. *Upaniṣad Saṃgraha* (containing 188 Upaniṣadas) ed by J.L.Shastri, Motilal Banarasidas, (1<sup>st</sup> edn.1970), Delhi,1984, P.41.
23. “*manam parijānai se nigganthe*” *Āyāracūlā*, ed by Muni Nathmal, as found in *Aṅgasuttāṇī* – I, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 15.45, p. 242.
24. “*manaḥ śuiddhiṃbibhrāṇā ye tapsyanti muktaye / tyaktvānāvaṃ bhujābhyām te titirsanti mahārṇavaṃ//*” *The Yoga Śāstra* of Hemacandra, tr. by A.S.Gopani, ed by Surendra Bothra, Prakrit Bharti Ācādey, Jaipur, 1989, 4.42, p. 106.
25. Mohanlal Mehta – *Jaina Psychology*, Sohanlal Jainadharma Pracharak Samiti, Amritsar, 1955. P. 142.

26. *Uttarādhyayana Sūtra*, 24.21.
27. *vimukta kalpanā jālam samtve supratistham/  
ātmarāmam manastajjñai manogupti rudāhrtāḷ// Yoga Śāstra*, 4.1.
28. *An encyclopedia of Jainism*, ed by P.C. Nahar and K.C. Ghosh, Sri Garibdas oriented series no. 40, Sri Satguru Publication, (1<sup>st</sup> edn - Calcutta), Delhi, 1998, p. 559.
29. *Yoga Śāstra* of Hemacandrācārya 1.26.
30. “*Yogaschittavrttinirodhaḥ*”  
*Yoga sūtra* of Patañjali, with the exposition of Vyāsa a translation and commentary by Usharbudh Arya, Vol. 1, *Samādhipāda*, the Himalaya International institute of Yoga Science and philosophy of U.S.A Honesdale, Pensylvania, 1.2, P. 93
31. *Ṭhāṇaṃ*, ed by Muni Nathmal, with text Sanskrit rendering etc. Jain Vishva Bharati, Ladnun, 1976, 3.21, (Tippan), P. 264.
32. *Yoga Śāstra* of Hemacandrācārya 1.26, p.17.
33. *Uttarajjhayaṇāṇī* 1.9
34. *Ibid* - 1.11.
35. *Uttarajjhayaṇāṇī* – 1.14
36. *Ibid*, 1.16.
37. *Uttarādhyayana Sūtra*, 23.56.
38. *Uttarajjhayaṇāṇī*, 23.36
39. *Uttarajjhayaṇāṇī*, 29.53
40. *jaha jaha sujñhai salilam, taha taha rūvaim pāsai ditthi/  
Āvaśyaka niryuktirevacūrñī*, part-2, Motichand Magan bhai Choksi, 1965, p. 1169
41. *samrambhasamārambhe, ārambhe ya taheva ya/  
vayam pavattamānam tu, niyattejja jayam jāi//  
Uttarajjhayaṇāṇī* 24.23
42. *aliyāṇadiṇiyatti va moṇaṃ hoi vadigutti/ Niyamasāra* 69
43. *Niyamasāra* 67
44. *samjñādi parihāren yanmaunsyāvalambanaṃ/  
vāgvrtteh samvrtirvā yā sā vāgguptirihocyate// Yoga Śāstra* 1.42
45. *An Encyclopedia of Jainism*, ed. by P.C.Nahar, P. 560.
46. *Uttarādhyayana Sūtra* 24.23

47. *Uttarajjhayaṇāṇī* 1.14
48. I bid, 1.24
49. I bid, 1.25
50. *Dasaveāliya* 6.11
51. I bid, 8.47
52. I bid, 10.10
53. *Uttarādhyayana Sūtra*, ed by Amar Muni, Atma Jnanpith, Manasa Mandi, Panjab, 1992. 29.55, p. 378.
54. *vayanvibhattiakusalo ayogatan bahavidham ajānanto/  
jati vi na bhasati kimci na ceva vatiguttayam patto// 192.  
vayanvibhattikusalo vayogatam bahavidham viyānanto/  
divasamavi bhāsmāno abhāsmāno vā vaigutto// 193  
Daśavaikālika-niryukti, Prakrit Text society, Ahmedabad, 1973*
55. *taheva sāvajjaṇumoyaṇī girā, ohāriṇī jā ya parovaghāṇī/  
se koha loha bhayasāva mānava, na hasmāṇo vi girāṇi vaejjā//  
Dasaveāliyam - 7.54*
56. *Uttarajjhayaṇāṇī* - 23.73
57. *mokkha sāhana heussa sāhu dehassa dhāraṇ, Dasavaikālika-sūtra  
5.1.92*
58. *Uttarādhyayana sūtra*, tr. by Harman Jacobi, 24.24, 25.
59. *Yoga Śāstra*, 1.43.44
60. *jaha kumme sa amgāiṃ, sae dehe samāhare/  
evaṃ pāvāiṃ mehāvī, ajjhappeṇa samāhare//  
Sūyagado, 8.16*
61. *Uttarajjhayaṇāṇī*, 1.18
62. *Uttarajjhayaṇāṇī*, 1.19
63. I bid, 1.30
64. *Daśavaikālika Sūtra* 8.44
65. *Dasaveāliyam* 10.15, p. 481
66. *hatthasattato pādasattato, vācāya sattato saṭṭuttamo/  
ajjhataaraato samāhito, eko santusitotamāhu//  
Dhammapada, tr. by Buddha Rakkhita, Buddha Vacan Trust,  
Mahabodhi Society. (1<sup>st</sup> edn 1959) Bangalore, revised edn 1986,  
25.3, p. 143..*

67. *Dasaveāliyaṃ, cūlikā, 2.14, p. 523.*
68. *manavayakāyasu, samvude ya je sa bhikkhū. Dasaveāliyaṃ - 10.7*
69. *jayā joge nirumbhittā śāilesiṃ padivajjā  
taya kammaṃ khavittāṇaṃ siddhiṃ gacchai nīrao. Dasa. 4.24.*
70. *Pravacana sāra of Kundakunda, with the Prakrit text Sanskrit commentaries of Amṛtacandra and Jayasena , Hindi commentary of Panda Hemraja, with an English translation of the text, a topical Index and the text with various readings etc. by A.N. Upadhye, The Paramshrut Prabhavak Mandal, Shrimad Rajchandra Ashrama, Agas, 184, 3.38, p.300.*
71. *devadvijaguruprājñā, pūjanaṃ śaucamārjavam,  
brahmacaryam ahimsā ca, śārīraṃ tapa ucyate.  
Bhagvat Gītā - As It Is. 17.14. p. 764.*
72. *anudvegakaraṃ vākyam, satyaṃ priyahitaṃ ca yat,  
svādhyāyabhyāsanam caiva, vānmayam tapa uchyate.  
Bhagvat Gītā -As It Is - 17.15.*
73. *manaḥ prasādaḥsaumyatvaṃ maunamātmāvinigrahaḥ  
bhāva saṃsuddhirityetat, tapo mānasmucyate.  
Bhagvat Gītā - 17.16*

\*\*\*



## पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

1. देवर्धि परिषद्, नागपुर के द्वारा आयोजित परिसंवाद सम्पन्न संस्कृत विद्या के विद्वान् मनीषी प. पू. मुनिश्री प्रशमरति विजयजी म. सा. के सान्निध्य में दिनांक 27 मई 2012 रविवार के दिन एक परिसंवाद का आयोजन हुआ। परिसंवाद का विषय था- 'भारतीय साहित्य की परम्परा में आधुनिक संस्कृत जैन ग्रन्थकारों का अवदान'। पू. मुनिश्री ने इसी विषय पर एक पुस्तक लिखी है : संस्कृत भाषा के आधुनिक जैन ग्रन्थकार, प्रकाशक, चौखम्भा प्रकाशन, बनारस। इस परिसंवाद में इस पुस्तक का विमोचन भी किया गया। पू. मुनिश्री ने अपने वक्तव्य में परिसंवाद की भूमिका समझाते हुए कहा कि 'पिछले सौ-डेढ़ सौ साल में हिन्दी, गुजराती तथा अंग्रेजी भाषाओं में लिखे गए जैन ग्रन्थों की संख्या इतनी विशाल है कि गिनती करना असम्भव सा प्रतीत होता है। इनके सामने इन्हीं वर्षों में लिखे गए संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों की संख्या सात सौ से अधिक है। तथापि संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों का महत्त्व ही सविशेष है क्योंकि आत्मचिन्तन की भारतीय परम्परा और वीतरागभाव की उपासना करने की जैन परम्परा का आदर्श संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों ने ही जीवन्त रखा है। इस परिसंवाद में प्रो. रमेश चन्द्र पण्डा (पूर्व संकायाध्यक्ष, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी), प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी (पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ), डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय (एसोसिएट प्रोफेसर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ), डॉ. अशोक कुमार सिंह (एसोसिएट प्रोफेसर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ) एवं श्री ओम प्रकाश सिंह (पुस्तकालयाध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ) ने अपने शोध-पत्रों का वाचन कर परिसंवाद के विषय पर प्रकाश डाला।

परिसंवाद की अध्यक्षता प्रो. रेवा प्रसाद द्विवेदी (इमेरिटस प्रोफेसर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) ने की। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि मुनिश्री का यह कार्य इनसाइक्लोपीडिया के समान है। प्रत्येक ग्रन्थों का परिचय संस्कृत भाषा में लिखना चाहिए एवं भाषा सरल होनी चाहिए। यदि मुनिश्री इस पुस्तक का प्रकाशन हमारी संस्था 'कालिदास संस्थानम्', वाराणसी से कराने का अवसर दें तो हमारे लिए यह आनन्द का विषय होगा।

मंगलाचरण प. पू. मुनिश्री ने किया। स्वागत अभिवचन डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय ने किया। मंच संचालन डॉ. अशोक कुमार सिंह ने किया तथा परिसंवाद के अन्त में श्री महेंद्रराज लुणावत जी ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

## 2. विदेशी विद्वानों को जैनविद्या का शिक्षण

पाशर्वनाथ विद्यापीठ परिसर में 16 से 20 जून 2012 तथा 21 जून से 12 जुलाई 2012 तक आई. एस. जे. एस. (इण्टरनेशनल स्कूल फार जैन स्टडीज) के तत्त्वावधान में जैनविद्या के विभिन्न विषयों पर क्रमशः दो प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित हुए। इस प्रशिक्षण कार्यक्रम में कुल 31 विद्वानों ने जैनधर्म दर्शन का अध्ययन किया।



इस प्रशिक्षण कार्यक्रम में जैनधर्म-दर्शन के विभिन्न विषयों पर अंग्रेजी में व्याख्यान हुए, जिनके विवरण निम्न हैं-

**1-Dr. Shugan C. Jain (Delhi)—**

(a) Social Consciousness (b) Bio-ethics and (c) Tirthankara & Concept of Siddha or Pure Soul

**2- Dr. Ashok Kumar Singh (Varanasi)—**

(a) Ratnakaraṇḍa Śrāvakācāra and (b) Tolerance in Jain Religion and (c) Uttarādhyayana Sūtra

**3- Prof. M. N. P. Tiwari (Varanasi)—**

(a) Jain Iconography and (b) Jain Art

**4- Prof. Ramjee Singh (Bhagalpur)—**

(a) Salient Features of Jain Religion and (b) Doctrine of Karma

**5- Dr. Paul Palmoroza—**

Ethics in Business (Skype)

**6- Prof. Viney Jain (Delhi)—**

(a) Concept of Leśyā and (b) Forgiveness, Bio-ethics

**7-Prof. P. C. Jain (Delhi)—**

(a) Sociology of Jain Community and (b) Jain Diaspora

60 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

3. 12 जुलाई, 2012 को आई. एस. जे. एस. शिक्षण सत्र का समापन दिनांक 12 जुलाई 2012 को पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में आई. एम. जे. एस. (इण्टरनेशनल स्कूल फार जैन स्टडीज) के तत्त्वावधान में जैनधर्म-दर्शन का अध्ययन करने वाले विदेशी विद्वानों एवं छात्रों के अध्ययन कार्यक्रम का समापन होगा।

4. अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का 60वाँ अधिवेशन पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में कराने का प्रस्ताव

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के 60वें अधिवेशन को सन् 2013 में पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी में आयोजित कराने का प्रस्ताव 58वें अधिवेशन (सोमनाथ) में कार्यकारिणी के समक्ष प्रस्तुत किया गया।

5. जैनधर्म-दर्शन विषय पर 15 दिवसीय राष्ट्रीय कार्यशाला कराने की योजना

आगामी 23 सितम्बर से 7 अक्टूबर 2012 को पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा जैनधर्म-दर्शन विषयक राष्ट्रीय कार्यशाला कराने की योजना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत जैनधर्म-दर्शन के समस्त पक्षों जैसे- जैन दर्शन, आचार, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, पाण्डुलिपि, प्राकृत भाषा, अपभ्रंश भाषा इत्यादि विषयों पर व्याख्यान होंगे।

**विशिष्ट व्यक्तियों का आगमन**

**श्री नृपराज जैन, श्री सुमति कर्णावत एवं श्री अशोक**

श्रमण संघीय चतुर्थ पट्टधर आचार्य सम्राट प. पू. श्री शिवमुनि जी म. सा. के शिष्य श्री सुमति कर्णावत (अध्यक्ष, श्रमण संघीय श्रावक समिति), श्री नृपराज जैन (पूर्व अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्यापीठ) एवं श्री अशोक मेहता (सूरत) आदि जैन समाज के अग्रणी गणमान्य व्यक्तियों का आगमन दिनांक 11 जून 2012 को पार्श्वनाथ विद्यापीठ में हुआ। इन गणमान्य व्यक्तियों का स्वागत संस्था के मंत्री श्री इन्द्रभूति बरड़ एवं अध्यक्ष डॉ. शुगन चन्द जैन ने किया एवं संस्था के विकास से सम्बन्धित भावी परियोजनाओं पर विचार-विमर्श किया।

\*\*\*

## जैन जगत्

1. आचार्य सम्राट पूज्य श्री शिवमुनि जी का चातुर्मास प्रवेश : काशी  
श्रमण संघीय प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के  
पौत्र शिष्य व बहुश्रुत, महाश्रमण पूज्य गुरुदेव श्री ज्ञानमुनि जी महाराज के सुशिष्य  
तपसूर्य, आत्मज्ञानी सद्गुरु युगप्रधान आचार्य सम्राट पूज्य श्री शिवमुनि जी  
महाराज का चतुर्मास मंगल प्रवेश एवं भव्य अभिनन्दन समारोह दिनांक 1 जुलाई  
2012, रविवार को प्रातः 9.00 बजे लुधियाना में प्रारम्भ होगा।



आचार्यश्री जी जैनदर्शन की मूल साधना, आत्मध्यान साधना के अन्वेषक वीतराग  
साधना के प्रचारक, आत्मज्ञानी, आत्मार्थी सन्त रत्न हैं। आपश्री जी तीस हजार  
किलोमीटर की पदयात्रा करते हुए भी 26 वर्षीय एकान्तर तप में संलग्न हैं।  
आपने पुरुषार्थ, क्षमा, प्रार्थना, विन्य एवं कृतज्ञता से असम्भव को सम्भव कर  
दिखाया है। आत्मध्यान के प्रयोग से आपने लाखों-लाखों के जीवन में क्षायिक  
समकित के बीज का आरोहण किया है और वे सभी साधक आत्मज्ञान से  
केवलज्ञान प्राप्त करने की साधना में अनवरत साधनारत हैं। इसी उद्देश्य को ध्यान  
में रखकर इस चातुर्मास में आचार्य श्री द्वारा आत्म-ध्यान साधना शिविर का  
आयोजन किया गया है जिसका विवरण निम्नलिखित है-

(अ) बेसिक शिविर (3 दिवसीय)

दिनांक : 9-11 जुलाई, 6-8 अगस्त, 24-26 सितम्बर, 2012

(ब) बेसिक शिविर (1 दिवसीय)

दिनांक : 11 जुलाई, 8 अगस्त, 2 सितम्बर, 14 सितम्बर, 26 सितम्बर,

14 अक्टूबर और 17 अक्टूबर 2012

(स) गम्भीर शिविर (2 दिवसीय)

दिनांक : 15-16 सितम्बर 2012

62 : श्रमण, वर्ष 63, अंक 2 / अप्रैल-जून 2012

(द) गम्भीर शिविर (4 दिवसीय)

दिनांक : 12-15 जुलाई, 9-12 अगस्त, 27-30 सितम्बर एवं 18-21 अक्टूबर 2012

(य) अन्तर्राष्ट्रीय आत्म-ध्यान साधना शिविर

दिनांक : 17-21 नवम्बर 2012

## 2. जैनविद्या संस्थान द्वारा पुरस्कारों के लिए पुस्तकें आमन्त्रित

जैनविद्या संस्थान, जयपुर के द्वारा महावीर पुरस्कार वर्ष 2012, स्वयंभू पुरस्कार वर्ष 2012, धरसेनाचार्य पुरस्कार वर्ष 2012 एवं ब्र. पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया पुरस्कार वर्ष 2012 हेतु पुस्तकें 31 अक्टूबर 2012 तक आमन्त्रित हैं। पुरस्कार की नियमावली, आवेदन पत्र व विस्तृत जानकारी [www.award.jainapa.com](http://www.award.jainapa.com) पर उपलब्ध है।

\*\*\*

## पुस्तक समीक्षा

### वाराणसी के जैन तीर्थ एवं मन्दिर

लेखक- ललित चन्द जैन, प्रका.- लाभन्दु प्रकाशन, वाराणसी, मूल्य- 20/-

पृ. 56

प्रस्तुत पुस्तक वाराणसी के जैन तीर्थ एवं मन्दिरों की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत पुस्तक 15 लघु अध्यायों में विभाजित है। वाराणसी जैन तीर्थों का एक महत्त्वपूर्ण स्थल रहा है। जैन परम्परा के अनुसार 24 तीर्थकरों में से 4 तीर्थकरों की जन्मस्थली वाराणसी ही रही है। यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी के भेलूपुर में हुआ था। लेखक ने पुस्तक का प्रारम्भ वाराणसी के जैन तीर्थों से किया है। इनमें भेलूपुर, भदनी, सिंहपुरी एवं चन्द्रावती तीर्थ का वर्णन पुस्तक के अध्याय में क्रमानुसार किया गया है। पुस्तक में अन्य श्वेताम्बर जैन मन्दिरों का भी उल्लेख है। पुनः जैन आगमों में वाराणसी, भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन वृत्तान्त, जैन कथा साहित्य में काशी, उतखनन में प्राप्त जैन प्रतिमाएँ, विविध तीर्थकल्प में वाराणसी, पन्द्रहवीं से बीसवीं शताब्दी में वाराणसी, काशी का संक्षिप्त इतिहास एवं सांस्कृतिक परम्परा, विभिन्न क्षेत्रों में काशी का योगदान, वाराणसी के दर्शनीय स्थल एवं अन्य उपयोगी सूचनाएँ लेखक ने क्रमशः प्रस्तुत किया है। पर्यटन की दृष्टि से अन्य उपयोगी सूचनाएँ शीर्षक से प्रस्तुत पुस्तक का अन्तिम अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस अध्याय में अन्य शहरों से वाराणसी की दूरी एवं महत्त्वपूर्ण ट्रेनों की सूचना है। पुस्तक में यत्र-तत्र तीर्थों एवं मन्दिरों के चित्र दिये गए हैं जो इस पुस्तक की महत्ता को दर्शाते हैं। लेखन में सर्वत्र समन्वयात्मक प्रयास दृष्टिगोचर होता है। यह पुस्तक जैन तीर्थ एवं मन्दिरों के विषय में जिज्ञासा रखने वाले पाठकों एवं जिज्ञासुओं के लिए पाठनीय एवं संग्रहणीय है। इस शोधपरक कार्य के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं।

डॉ. नवीन कुमार श्रीवास्तव

\*\*\*





## OUR IMPORTANT PUBLICATIONS

1. Prakrit - Hindi Kośa	
Edited by Dr. K.R. Chandra	₹ 1200.00
2. Encyclopaedia of Jaina Studies	
Vol. I (Art & Architecture)	₹ 4000.00, \$ 100.00
3. Jaina Kumāra Sambhavam	
Dr. Neelam Rani Shrivastava	₹ 300.00
4. Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I-Vol. VII,	₹ 1430.00
5. Hindi Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I-Vol. III	
Dr. Shitikanth Mishra	₹ 1270.00
6. Jaina Pratimā Vijiñāna	
Prof. M.N.P. Tiwari	₹ 300.00
7. Theory of Reality in Jaina Philosophy	
Dr. J. C. Sikdar	₹ 300.00
8. Concept of Matter in Jaina Philosophy (2 <sup>nd</sup> Ed.)	
Dr. J. C. Sikdar	₹ 500.00
9. Sthānakavāsī Jaina Paramparā Kā Itihāsa	
Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar	₹ 500.00
10. Studies in Jaina Philosophy	
Dr. Nathmal Tatia	₹ 200.00
11. Doctrine of Karma in Jaina Philosophy	
H.V. Glasenapp	₹ 150.00
12. Jainism: The Oldest Living Religion	
Dr. Jyoti Prasad Jain	₹ 40.00
13. Scientific Contents in Prakrit Canons	
Dr. N. L. Jain	₹ 400.00
14. Pearls of Jaina Wisdom	
Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P. Pandey	₹ 120.00
15. Studies in Jaina Art	
Dr. U.P. Shah	₹ 300.00
16. Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I	
Editor : Dr. S. P. Pandey	₹ 500. \$ 40-00
17. Jainism in a Global Perspective	
Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	₹ 400.00, \$ 19.00
18. Multi-dimensional Application of Anekāntavāda	
Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	₹ 500.00, \$ 20.00
19. Advanced Glossary of Jaina Terms	
Dr. N. L. Jain	₹ 300.00
20. Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Pariśilana (Hindi 2 <sup>nd</sup> Ed.)	
Dr. S. L. Jain	₹ 600.00
21. Jains Today in the World	
Pierre Paul Amiel	₹ 500.00
22. Kasāyapāhuḍa (Chapters on Passion)	
Dr. N. L. Jain	₹ 300.00
23. Jaina Karmagrantha Part -I-V (Pt. Sukhlal Sanghvi)	₹ 400.00